सूचना

इस पुस्तक का कोई नाटक खेलना हो तो २५) मनीआर्डर द्वारा नीचे लिखे पते पर भेजकर खेल सकते हैं। कोई नाटक किसी पुस्तक के लिये लेना चाहते हों तो शर्तें तय करने के बाद ही लें।

पता—नवयुग ग्रन्थ कुटीर
बीकानेर

मुद्रक
एजूकेशनल प्रेस
बीकानेर

सूची

रचनाकाल– अप्रैल १९४९

नंदरानी

पात्र

नन्दरानी	नन्दमहर की स्त्री, यशोदा

स्मृति पात्र

नंद	गोकुल ग्राम के मुखिया, नंदरानी के पति
देवकी	वसुदेव की स्त्री
कृष्ण	नंदरानी के पोष्यपुत्र
राधा	कृष्ण की सखी
ऊधो	कृष्ण के सखा
	पथिक, सखा आदि

गोकुल ग्राम : नंद महर का कक्ष

सायंकाल

[सामने धूसर क्षितिज पर एक तारा झलमला रहा है। नंदरानी उस पर दृष्टि गड़ाये चुप बैठी है। घर में बाहर भीतर सब जगह शून्यता छा रही है। गोकुल गाव सर्वव्यापी शून्यता में डूब-सा रहा है। उसकी कल्पना में सुन्दर अतीत के एक प्रभात की सृष्टि होती है। पर्व-स्नान, जमुना का तट। दो सखियों का प्रेम-मिलन। कुशलक्षेम — समापण।]

नंदरानी — बहिन, तेरे मुखड़े पर यह विषाद की छाया कैसी गहरी हो रही है?

देवकी — मेरे विषाद की कथा न पूछने की है न कहने की, बहिन।

नंदरानी — मुझसे तेरा क्या छिपाव है? कोई दूसरी बात हमारे बीच नहीं हो सकती।

देवकी — यह क्या मैं नहीं जानती, परन्तु—

नंदरानी — फिर परन्तु क्या. बोलो। अपने जी की बात मुझे पता तो लगी।

देवकी — बड़ी लज्जा की बात है। बड़े दुःख की बात है। इसे कहने से कोई लाभ नहीं है बहना!

पात्र

नन्दरानी	नन्दमहर की स्त्री, यशोदा

स्मृति पात्र

नंद	गोकुल ग्राम के मुखिया, नंदरानी के पति
देवकी	वसुदेव की स्त्री
कृष्ण	नंदरानी के पोष्यपुत्र
राधा	कृष्ण की सखी
ऊधो	कृष्ण के सखा
	पथिक, सखा आदि

गोकुल ग्राम : नंद महर का कक्ष

सायंकाल

[सामने धूसर क्षितिज पर एक तारा झलमला रहा है। नंदरानी उस पर दृष्टि गड़ाये चुप बैठी है। घर में बाहर भीतर सब जगह शून्यता छा रही है। गोकुल गाव सर्वत्रव्यापी शून्यता में डूब-सा रहा है। उसकी कल्पना में सुन्दर अतीत के एक प्रभात की सृष्टि होती है। पर्व-स्नान, जमुना का तट। दो सखियों का प्रेम-मिलन। कुशलक्षेम — समापण।]

नंदरानी — बहिन, तेरे मुखड़े पर यह विषाद की छाया कैसी गहरी हो रही है ?

देवकी — मेरे विषाद की कथा न पूछने की है न कहने की, बहिन।

नंदरानी — मुझसे तेरा क्या छिपाव है ? कोई दूसरी बात हमारे बीच नहीं हो सकती।

देवकी — यह क्या मैं नहीं जानती, परन्तु—

नंदरानी — फिर परन्तु क्या, भोली। अपने जी की बात मुझे बता तो सही।

देवकी — बड़ी लज्जा की बात है। बड़े दुख की बात है। उसे कहने से कोई लाभ नहीं है बहना !

नदरानी — तब तू मेरी सखी नहीं।

देवकी — क्यों ?

नदरानी — तू दुराव रखती है। अपना समझती तो अपने दुख दर्द मे अपनी वहिन को शामिल न करती ?

देवकी — यह बात नहीं।

नदरानी — फिर क्या बात है ?

देवकी — उस बात को सुना कर मैं अपनी वहिन के दुख को वढ़ाऊंगी ही, यह जानकर मैं उसे कैसे सुनाऊ ? फिर इतने वडे कलक की बात।

नदरानी — तभी तो मुझे सुना वहिन। दुख और कलक का इतना वडा बोझ मैं तुझे अकेले ढोने नहीं दूंगी। आह, तेरा दुर्वल शरीर।

देवकी — मैं सुनाऊँ तो तू मुझे घृणा से दुरदुरा देगी। तेरे स्नेह की निधि को खोने का जोखम कैसे उठाऊँ भला ?

नंदरानी — जिसे मैंने जमुना को साक्षी करके सखी माना है, सूर्य और चन्द्रमा जिस वहिनापे के गवाह हैं, वह क्या यों टूट सकता है भोली।

नदरानी — (अचरज में भर कर) यह तू क्या कहती है देवकी ?

देवकी — मैं सत्य कहती हूँ नदरानी। मैं मां नहीं राक्षसी हूँ। अपने इन्हीं हाथों से मैंने एक नहीं अपने सात फूल से बच्चों का बलिदान किया है। उनका गला घोंटा है। मां के दूध की एक बूंद भी उनके गले में नहीं उतरने दी। उनका वह तड़पना, उनका वह छटपटाना, उनका वह रुदन। ओफ! उस महापाप से मेरा सुदर्शन रूप काला पड़ गया है। मेरी माखन-सी देह कोयला हो गई। आज सोचा था, पर्व-स्नान के बहाने जमुना मैया की गोद में विश्राम लेकर इस नारकी जीवन का अन्त कर दूंगी। पाप के भार को अब और अधिक नहीं ढोऊंगी।

(अञ्चल में मुँह छिपा कर सिसकती है।)

नदरानी — (देवकी को अपना अंग खींच कर छाती से लगा लेती है) बहना, मेरी कोयलिया! मैं तेरी बात समझने में असमर्थ हूँ। मुझे लगता है कि धरती मेरे पावों के नीचे से सरक रही है और जमुना का प्रवाह जहां का तहां जमा जा रहा है।

देवकी — छोड़ दे, मुझे मत छू नदरानी। पुण्य सरोवर की राजहंसिनी, मेरी कलंकिनी छाया से दूर हो जा।

(उसकी भुजाओं से अपने को मुक्त करने का यत्न करती है।)

नदरानी — हरियारी बहिन, मुझसे तनिक साफ साफ

कह। तो क्या यह सच नहीं है कि भाई कस का कोप तेरे सतति-सुख को राहु वन कर ग्रस रहा है? ऐसी ही चर्चा तो रही है।

देवकी — यह सब व्यर्थ है। हजार कस भी क्या मां से, उसके जीते जी, उसकी सतान को छीन सकते है?

नदरानी — छीनने की मत कह बहिन। अत्याचारी क्या नहीं कर सकता?

देवकी — यदि मा सचमुच मा हो तो कैसा ही अत्याचारी उसके सामने उसकी सतान का स्पर्श नहीं कर सकता। मा के शरीर की बोटी-बोटी अलग कर देने के वाद ही वह उसे हाथ लगा सकता है। और यहा सब मेरी इच्छा से, मेरी स्वीकृति से, मेरी आखों के सामने हुआ। यदि मैं मा होती तो प्राणों का मोह छोड कर उसका विरोध करती। विश्व का कण कण मा के विरोध का साथ देता। हजारों कस धूल मे मिल जाते, —परन्तु मैं मा होती तब न।

नदरानी — मेरी मैना, मेरी सहेली। तेरे दुख को मै निपूती क्या समझूगी।

देवकी — प्राणों के मोह से मैंने अपने हृदय के टुकड़ों को एक एक करके दे दिया। मेरे हृदय के भीतर एक आग धधक रही है। प्रतिहिंसा की आग नहीं। अपने प्रति घृणा की आग। मैंने दुनिया मे माता के आदर्श को लजाया है। मेरा दुष्कर्म विषधर वन कर आज मुझे डस रहा है। जिस जीवन

का मैंने मोह किया वह आज पत्थर की शिला बन कर मुझे पीस रहा है।

नंदरानी — (अपने अञ्चल से देवकी के आंसू पोंछती हुई) शान्त हो बहिन, शान्त हो। तूने जो कुछ किया है विवश होकर किया है। तू उसके लिये दोषी नहीं है।

देवकी — नंदरानी, अब इस जीवन में शांति कहां बहिन! मूर्तिमान पाप मेरी आंखों के सामने खड़ा है। उसके खांडे के नीचे मेरी गर्दन रक्खी है। जमुना मैया की शरण में तो मैं उसके कोप से बच सकती हूँ।

नंदरानी — तेरी कोख से दिव्य तेज झांक रहा है। अत्याचारी के पाप के प्याले को तेरे द्वारा भरवा कर ईश्वर तुझे अमर यश देना चाहता है देवकी। तू मर नहीं सकती। जमुना मैया तुझे ग्रहण नहीं कर सकतीं।

देवकी — नंदरानी, क्या कहती हो! जो महापातक बिच्छू का दंश बन कर मुझे पीड़ित कर रहा है उसी का चक्र एक बार और चलने दूं? नहीं जीजी, मेरी आंखें अब यह दृश्य नहीं देख सकतीं, मेरा हृदय अब इस पापाचार को नहीं सह सकता।

नंदरानी — देवकी, विश्व के नियंता की लीला का आशय किसने समझा है? इतने दुःख में भी तेरे ऊपर वज्रपात नहीं पड़ा तो इसके अन्दर कोई आशय होना चाहिए।

देवकी — चाहे जो हो बहिन, नौ महीने मोह-ममता को

अपने भीतर पोस कर, मैं उसी परिणाम के लिये नहीं रख सकती।

नंदरानी — तो तू प्राण देगी बहिन।

देवकी — हां, प्राण देकर मैं माता के कर्त्तव्य का पालन करूँगी नंदरानी। जिससे अब तक बचती रही हूं वह कर्त्तव्य आज पालन करूँगी।

नंदरानी — लेकिन देवकी, मेरी प्यारी सखी, मैं तुझे मरने न दूंगी। मेरी कोख देख। विधना ने शायद इसी हेतु इस अवस्था में अपना यह प्रसाद दिया है मुझे।

देवकी — अरे सच नंदरानी, भगवान तुझे पुत्रवती करे बहिन। नंद महर की चिर दिन की अभिलाषाएँ पूरी हों, पर न मेरी चिंता न कर बहिन। मुझ भाग्यहीना के लिये तू अपनी आंखों से आंसू न ढाल। — जा जा, मेरी छाया से इस समय तेरे दूर रहने की और अधिक आवश्यकता है।

नंदरानी — देवकी, मेरी प्रिय सहचरी, जा-जो बात मैंने कही है उसे याद रखना। वसुदेव से कह देना वे आकर उनसे मिल लें। वे दोनों बाल सखा आप ही उपाय कर लेंगे। भगवान ने चाहा तो तेरा यह शिशु दुनियां में अजर अमर रहेगा।

देवकी — ऐसा कहीं हुआ है? जीवन भर के पुण्य सञ्चय का तेरा फल क्या मैं अपने दुर्भाग्य के लिए ले सकती हूँ?

नंदरानी — एक दिन तूने कहा था, हताश क्यों होती हो नंदरानी। मेरी एक संतान को तुम पाल लेना। जा तेरा भावी

शिशु आज से मेरा हो गया। मेरी धरोहर समय पर मुझे सौंप देनी होगी। इस बात को भूल मत जाना, देवकी!

देवकी — यदि तेरी धरोहर की मैं रक्षा कर सकी तो उस पर कभी अपना अधिकार नहीं जताऊंगी, नंदरानी! यदि वह जिया-जागा तो मेरे भाग से नहीं तेरे भाग से जिये-जागेगा।

[नंदरानी के कानों में यही पिछले शब्द गूंजते रह जाते हैं। कल्पना का सूत्र टूट जाता है। वह चौंक कर चारों ओर देखती है। संध्या की धूसर छाया रात की कालिमा में बदल गई है। आकाश तारों से जगमग हो उठा है। गोकुल ग्राम में शून्यता का विस्तार हो चला है। अनेक नये दृश्य उसकी कल्पना में आते और विलीन होते रहते हैं। उसका कन्हैया सभी में मुख्य होता है। दृश्य इतनी जल्दी जल्दी बदलते हैं तो भी वे सभी उसके परिचित हैं। उनकी स्मृति अभी तक उसके मन में ताजी है। नंदरानी कभी हंसती, कभी गाती, कभी आंखें दिखाती, कभी मुस्कराती, कभी मौन हो देखती रहती, कभी नंद महर को पुकार उठती, कभी क्रोध करती और कभी आह भरती है। अचानक उसका कन्हैया एक अपूर्व लावण्यवती लड़की (राधा) को साथ ले आता है।]

नंदरानी — कन्हैया, तेरे साथ यह कौन है रे?

कृष्ण — मां तू नहीं जानती है इसे?

नंदरानी — मैं कैसे जानूंगी? मैं तो आज ही देख रही हूं इसे। आ, मेरे पास तो आ री। देखूं, तू कहां की है?

[राधा नंदरानी के पास जाती है। झुक कर प्रणाम करती है।]

कृष्ण — यह बरसाने की है।

नन्दरानी — [राधा के सिर पर हाथ रख कर] अरे, बडी सुलक्षणी है। किस गांव की है री ?

राधा — बरसाने की।

नन्दरानी — बरसाने की। है तो बडी सुहावनी। तनिक मुंह ऊपर तो उठा, देखूं।

[राधा लजाकर मुंह नीचा कर लेती है।]

कृष्ण — मां तू तो लगी उसे चिढाने। ऐसा करने से वह फिर कैसे आयेगी ?

नन्दरानी [राधा से] किसकी बेटी है री ?

राधा — वृषभान की।

नन्दरानी — वृषभान की, जिसकी घरवाली कीरति कहलाती है ?

[स्वीकारात्मक सिर हिलाती है।]

नन्दरानी — तू ऐसी भोली कैसे है बेटी। तेरी मैया तो बडी वैसी है। [हंसती है]

राधा — कैसी ?

नन्दरानी — तेरे से क्या कहूं बेटी मैं। और तेरा बाबा भी तो वैसा ही है।

राधा — [कृष्ण से] मैं जा रही हूं कन्हैया। मैंने भूल की जो तुम्हारे घर आई।

कृष्ण — क्यों, क्या रूठ गई ? मैया तो हंसी कर रही हैं।

(नंदरानी से) मैया ले, यह जा रही है रूठी। मैंने कहा था न कि तू उसे चिढ़ा मत।

नंदरानी — अरी ओ री कीरतिकुमारी। (उसका हाथ पकड़ कर) बड़ी मानिनी है। आ अब मैं कुछ न कहूँगी बेटी। तेरी अम्मा तो मेरी सहेली होती है।

[राधा को गोद में बिठा लेती है। उसकी चोटी गूँथती है। उसकी गाढ़ी ओढ़ना रख लेती है रेशमी ओढ़नी ओढ़ने को देती है। नई घघरिया पहनाती है।]

कृष्ण—बस, बहुत हो गया। अब चल आँखमिचौनी खेलेंगे।

[दोनों आँगन के दूसरे कोने में जाकर खेलते हैं। गाँव के और लड़के लड़कियाँ भी आ जाती हैं।]

नंदरानी — इस राधाकृष्ण की जोड़ी को भगवान् ने मानों अपने हाथों रचा है। [बाहर से आए नंद महर को बुला लाती है। आँगन के इशारे से उन्हें दिखाती है।] देखो।

नंद — सचमुच नंदरानी। जोड़ी सुंदर है। कन्हैया की गोद में राधा कसौटी पर सोने की रेख सी लगती है।

नंदरानी — बस चलो। नजर न मारो। विधना को धन्यवाद दो जिसने कन्हैया के लिए राधा को गढ़कर भेजा।

नंद — कल ही किसी को बरसाने भेजना पड़ेगा।

नंदरानी—इसमें सोच विचार क्या। आज ही भेज दो न।

नद — आज ही। अच्छी बात है आज ही भेज दूगा।

[नंद का प्रस्थान। कृष्ण हथेली से राधा की आखें मींचते हैं। आंखों के कोनों से वह फिर भी देखती रहती है।]

एक सखा — कन्हैया, वह देख रही है।

दूसरा सखा— आंखें ठीक से मींच, कान्हा ।

कृष्ण— इसकी आखें हैं कि क्या कहूँ ? मेरे हाथों में तो आती ही नहीं।

[इस बात से नंदरानी चौंक पड़ती है। ध्यान टूट जाता है। फिर वही अन्धेरी रात। सुनसान गोकुल ग्राम के अपने कक्ष में आकाश की ओर निहारती वह अकेली बैठी है। बाहर हवा वेग से सनसना रही है। वह एक गहरी निश्वास लेती है। आंखों के सामने नये दृश्य आते जाते हैं। — राधा अब सयानी हो गई है। कन्हैया भी बड़ा हो गया है। दोनों का प्रेम दिन दिन गाढ़ा होता जाता है। ब्रज के युवक और युवतियां कृष्ण पर प्राण देते हैं। तभी एक दिन रथ लेकर अक्रूर आ धमकते हैं। कृष्ण उनके साथ मथुरा के लिये चल पड़ते हैं, गोकुल में अंधेरा छा जाता है। राधा धूल में लोटती है। गोपियां और ग्वाल बाल 'कृष्ण कृष्ण' की रट लगाते घूमते हैं। गायें घास नहीं चरतीं, बछड़े थन नहीं पकड़ते। तमाल और कदंब की छाया के नीचे होनेवाला रास-रंग सहसा बंद हो जाता है। करील के कुञ्जों में से समय असमय बांसुरी का स्वर नहीं सुनाई पड़ता। जमुना के किनारे शून्य उदासी छा गई है ब्रजभूमि की सारी शोभा, समस्त श्री जैसे खो

गई हो। प्रातःकाल उठ कर कोई छाछ नहीं बिलोता। निकाला हुआ माखन जहां का तहां पड़ा है। जब माखनचोर ही नहीं है तो उसकी संभाल कोई क्या करे? नंदरानी आज गोपियों के उलाहने को तरसती हैं। जहां तहां उन्होंने कहला भेजा कि तुम सब को हो क्या गया है? कन्हैया की शरारत को दरगुजर क्यों करती हो? मेरे पास उसकी शिकायत क्यों नहीं लातीं? अब मैं उसकी हिमायत नहीं करूंगी। छाछ के माटे को फोड़ कर दधिकांदो करेगा तो मैं उसे सजा दूंगी। किसी का घड़ा फोड़ेगा तो उसके कान मरोड़ूंगी। माखन की चोरी करेगा तो उसके बेंत लगाऊंगी। फिर भी कोई आता नहीं। सांझ को सियार बोलने और रात को कुत्ते भूंकने हैं। इनके सिवा और कुछ सुन पड़ता है तो केवल रुदन और सिसकियां। राह चलता एक पथिक नंद महर के द्वार के पास से निकलता है। नंदरानी दौड़ कर द्वार पर आ जाती है।]

नंदरानी — कहां से आ रहे हो भाई?

पथिक — राजधानी से आ रहा हूं।

नंदरानी — कौन सी राजधानी?

पथिक — राजधानी आप नहीं जानतीं? अरे, मथुरा नगरी नहीं जानतीं?

नंदरानी — मथुरा क्यों नहीं जानूंगी। वहीं तो मेरा कन्हैया गया है। — पथिक, तुमने वहां मेरे कन्हैया को देखा है? सिर पर मोरमुकुट, कमर में पीताम्बर, अधरों पर मुरलिया।

पथिक — कितने ही कन्हैया बसते हैं वहां। वह कोई छोटी नगरी थोड़े ही है। दश योजन तक फैली है मथुरा। जहां तक नजर जाती है वहा तक अट्टालिकाए ही अट्टालिकाएं।

नंदरानी — कन्हैया तो मेरा एक ही है पथिक। कितने ही कन्हैया न मथुरा मे हो सकते हैं न सारी धरती पर। तुमने अगर एक बार उसे देखा होता।

पथिक — मैंने मथुरा का बहुत कुछ देखा है। कंस की मथुरा मे गया था और कृष्ण की मथुरा छोड़ कर आया हूँ।

नंदरानी — अरे वही कृष्ण। पथिक, वही तो हमारा कन्हैया है। तुम नहीं जानते वही तो हमारा लाड़ला है।

पथिक — (स्तम्भित होकर) राजराजेश्वर कृष्ण आपके कन्हैया है ?

नंदरानी — अरे हां, बटोही। क्या तुमने उसे देखा है ?

पथिक — हां मैंने देवकीनंदन राजराजेश्वर कृष्ण के दर्शन किये हैं। (गर्व का नाट्य)

नंदरानी — (जैसे किसी ने पत्थर दे मारा हो इस तरह पीछे हट कर) क्या कहा पथिक, देवकीनंदन राजराजेश्वर कृष्ण अर्थात् कृष्ण देवकी के बेटा ?

पथिक — हां मैया, देवकीनंदन भगवान् वासुदेव।

नंदरानी — और नंदनंदन नहीं, जसुदानंदन नहीं ! हाय यह मैं क्या सुन रही हूं ? हाय, हाय, मेरा कन्हैया। मेरी आंखों का तारा। मेरा लाड़ला ब्रजेश्वर, मेरा राधारंजन ! तू देवकी-

नंदन कैसे बन गया ? वासुदेव कैसे हो गया ? अभी दो दिन भी तो नहीं बीते हैं । मथुरा में पैर धरते ही इतना बदल गया । हाय क्या इसीलिए मैंने रात को रात नहीं जाना, दिन को दिन नहीं समझा । आठों पहर तेरे कुशल स्वास्थ्य के लिए मनौतियां मानीं । देवताओं की पूजा । देवी की आराधना । फूल की छड़ी से कभी छुआ नहीं । माखनमिश्री के सिवा कुछ खाने को दिया नहीं । पथिक, कुछ बोलो तो सही, तुमने अभी क्या कहा था ?

पथिक — (कुछ व्यथित सा दिखाई पड़ता है । आंखों में आंसू आ जाते हैं ।)

नंदरानी — तुमसे भूल हो गई थी पथिक, यह कहो न । अरे तुम तो रोने लगे । — तुम्हारी भूल कोई बड़ी भूल नहीं थी । मैं कब इसे धारती हूं । मैं नंदनंदन की मां तुम्हें क्षमा करती हूं । उठो, जाओ, अपना रास्ता लो भैया ।

[पथिक बिना कुछ कहे उठ कर चल देता है । एक रथ आता हुआ दिखाई पड़ता है । घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूल आती है । गोकुल में हलचल मच जाती है । आ गये हैं, नंदनंदन आ गये हैं, [illegible] आ गये हैं, [illegible] आ रहे हैं ।]

नंदरानी — (घर से बाहर आकर) कहां मेरा कन्हैया ?

राधा — मां, यह कृष्ण नहीं [illegible] उनका संदेशा लेकर आ रहे हैं । (इतने में [illegible] हैं ।)

नंदरानी — आ, कन्हैया को छूकर आने वाली धूल, मेरी इन पथराई आंखों से लग कर इन्हें शीतल करदे।

[रथ पास आता है। कोलाहल कम हो जाता है। स्त्री, पुरुष और बालक निराश होकर कहते हैं 'यह तो कोई और है।' कृष्ण का भेजा हुआ रथ आकर खड़ा हो जाता है। ऊधो रथ में से उतर पड़ते हैं और कृष्ण सखा के रूप में अपना परिचय देते हैं। कृष्ण के दूत को सब लोग घेर लेते हैं। नंदरानी का हृदय बैठ जाता है। वह मुँह को अञ्चल में छिपा लेती और रोती है।]

ऊधो — (भीड़ को हटाकर) नदरानी, मैं कृष्णसखा ऊधो आपको प्रणाम करता हूँ।

नदरानी — (भरे हुए गले से) सौ वर्ष जियो पुत्र, पर यह तो बताओ तुम किस कृष्ण के सखा हो ?

ऊधो — मेरी परीक्षा ले रही हो मैया ? मैं उस कृष्ण का सखा हूं जो नित्य बांसुरी में यही गाया करता है—

ऊधो, मोहि व्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी अरु कुञ्जन की छांहीं।
वे सुरभी के बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि गहि बांहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहि सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं।
अनगिन भांति करी बहु लीला जसुदानंद निबाहीं।
ऊधो, मोहि व्रज बिसरत नाहीं।

नंदरानी— (गद्गद् होकर अश्रुपात करती हुई) ऊधो, तुम मेरे कन्हैया के सच्चे सखा हो। तुम्हारे सामने ही उसने अपना हृदय खोला है भैया। यही मेरे लाल की वाणी है। एक बार फिर सुनाओ तो सही।

ऊधो— मां अब आपको मेरा विश्वास तो हुआ ?

नंदरानी— अविश्वास नहीं था पुत्र। एक पथिक से मैंने एक दूसरे ही कृष्ण की बात सुनी थी।

ऊधो — दूसरे कृष्ण।

नदरानी— हां, भैया— देवकीनंदन भगवान वासुदेव।

ऊधो— मैं समझ गया मां। पथिक बेचारा क्या जाने कि देवकीनंदन से पहले वे जसुदानन्दन हैं वासुदेव से पूर्व नंद-नन्दन हैं। आप सबसे जो कुछ उन्होंने पाया है वह क्या सौ वसुदेव और देवकी दे सकते हैं। आप मेरी बात पर विश्वास करें, उनका मन यहां और शरीर वहां है। कंस के अचानक पतन से कर्त्तव्य का इतना बड़ा भार उनके ऊपर आ पड़ा है कि वे यहां आने में विवश हैं, नहीं तो—

नदरानी— नहीं तो दौड़ा आता। मैं जानती हूँ मेरा लाल मैया के विना नहीं रह सकता है। मैया के विना कौन उसके मन की बात जानने की चेष्टा करेगा ? सहज संकोच किसके सामने उसे मुंह खोलने देगा ?

ऊधो— यही बात है मां। ऐसा कोई दिन नहीं जाता जब वे ब्रज की याद करके रोते न हों।

नंदरानी— (पास खड़ी हुई राधा की ओर संकेत करके) देखो ऊधो, कन्हैया की बालसहचरी वृषभान लली को। अपने कृष्ण के लिए कलपते कलपते इसकी सोने सी देह मुरझा गई है।

ऊधो— मैं देख रहा हूँ मां। (राधा से) कीरतिकुमारी, धन्य हो तुम। तुमने दुनियां मे प्रेम का आदर्श स्थापित किया है। कृष्ण को तुम्हारे प्रेम का जितना बल है उतना और किसी का नहीं। इसी तुम्हारे प्रेम के बल पर उन्होंने कर्त्तव्य का इतना बडा पहाड उठाया हुआ है।

राधा— (कुछ बोलती नहीं है। उसकी आखों से निरन्तर अश्रुप्रवाह उछलता रहता है।)

ऊधो— तुम्हारे और माता यशोदा के लिए उन्होंने विशेष सदेशा दिया है। उन्हीं के शब्द मैं कहता हूँ, सुनो — प्रेम महान है परन्तु कर्त्तव्य उससे भी महान है। कर्त्तव्य पर निछावर होने की शिक्षा मैंने तुम दोनों से ही पाई है। मैं तुम्हारा चिरऋणी हूँ। जन्मजन्मान्तर मे भी मैं इस ऋण से मुक्त होने की शक्ति नहीं रखता।

राधा— लेकिन ऊधो वे यहां आयेंगे कब, यह भी कुछ कहा है? दर्शन की प्यासी इन आंखों को कब तृप्ति मिलेगी?

ऊधो— राधे, उन्होंने कहा है मैं तुम्हारा ही हूँ। तुम से दूर कभी नहीं हूँ। मैं कर्त्तव्य करता हूँ उसमे सदा तुम मेरे

साथ रहती हो। तुम भी कर्त्तव्य की ओर ध्यान लगाओ। तुम देखोगी मैं सदा तुम्हारे साथ हूं। — और यह मत समझो मैं आऊंगा नहीं। मैं अवश्य आऊंगा। तुमसे मिले बिना मुझे चैन नहीं है।

राधा— अच्छी बात है। प्रयत्न करूंगी ऊधो। पर इतनी साधना और इतने ज्ञान की पूंजी कहां से पाऊंगी, यही एक सोच है। [धीरे धीरे जाती है।]

ऊधो— कृष्ण-सखी, तुम सर्व समर्थ हो।

नंदरानी— ऊधो, मेरे बेटे ने मुझे कर्त्तव्य करने की सलाह दी है। मेरी मोह से अंधी आंखों में उसने ज्ञान की ज्योति जगाई है। जिसके ऊपर दुनिया के सुख दुख का भार है उसे मैं अपनी ही गोद में छिपा रखना चाहती थी। यह मेरा अन्याय था वत्स! मेरे कन्हैया के दोनों ही रूप सत्य हैं। प्रेम के क्षेत्र में वह नंदनंदन है, जसुदानंदन है, राधिकारमण है, कर्त्तव्य के क्षेत्र में भगवान् वासुदेव। मेरी ओर से देवकी से कहना कि वह अपने वचन का पालन करे, प्रेम का प्रतीक मेरा जो कन्हैया है उस पर अपना अधिकार न जताये। राजराजेश्वर कृष्ण को मैंने उसके लिये छोड़ दिया है।

ऊधो— धन्य हो माता। (ऊधो नंदरानी के चरणों पर गिरते हैं। समस्त ग्वाल-बाल और व्रजांगनाएं एक स्वर से नंदरानी का जय-जयकार करते हैं।)

[नदरानी का ध्यान भंग हो जाता है। गंभीर रात्रि की शून्यता उसे चारों ओर से घेरे है। केवल आकाश के तारे उसकी ओर अब भी टकटकी लगाये हैं। सारा जीवन ही उसे स्वप्न की छाया सा लगता है। वेग से चलने वाला हवा का झोंका ही केवल सत्य प्रतीत होता है।]

(परदा)

रचनाकाल– अप्रैल १९४६

चंद्रग्रहण

नट

गोपा	गौतम बुद्ध की स्त्री
राहुल	बुद्धदेव का पुत्र
गोतमी	बुद्धदेव की विमाता
शुद्धोदन	बुद्धदेव के पिता
सुभद्रा	गोपा की दासी

कपिलवस्तु का राजमहल

सायंकाल

[दासी सूने कक्ष में दीपक जलाती है। कक्ष के एक सिरे पर मलिन वदन गोपा बैठी दिखाई पड़ती है। दासी उंगली से दीपक की बत्ती उकसा देती है। प्रकाश कुछ तेज हो जाता है। तो भी गोपा का ध्यान भंग नहीं होता। वह निर्निमेष अन्धकार की ओर देखती रहती है।]

दासी— भगवान्, कब स्वामिनी की तपस्या पूरी करेंगे ?

[आंख मींचकर आकाश की ओर हाथ जोड़ती है]

[कुमार राहुल का प्रवेश]

राहुल— माँ, माँ ! (दासी को देखकर) माँ नहीं है सुभद्रे !

गोपा— (सजग होकर) हूँ न, बेटा।

राहुल— ओह माँ, तुम इधर हो (पास आकर) चलो न। मैं तुम्हें खोज रहा हूँ। देवी गौतमी आयी हैं।

गोपा— (दासी से) सुभद्रा, आसन बिछाओ। माता गौतमी के लिए आसन—

राहुल— नहीं माँ, देवी गौतमी आसन पर बैठने नहीं आई हैं।

गोपा— परन्तु आसन बिछाना तो चाहिए, बेटा ! बड़ों के प्रति शिष्टाचार—

राहुल— देवी गौतमी किसलिए आई हैं ?— शायद तुम भूल गई हो मां ?

गोपा—(केवल अन्तिम बात सुनकर) कहीं भूल सकती हूँ—राहुल, कहीं भूल सकती हूँ— (अधमुंदी आंखों से अन्धकार की ओर देखती है।)

राहुल— तुम्हें याद नहीं है।

गोपा— याद नहीं है ? बिलकुल याद नहीं है ? क्या वह स्वप्न था— मेरे जीवन का वह स्वर्णिम अतीत ? आह, बेटा। (दोनों बाहें फैलाकर राहुल को गोद में भरना चाहती है।)

राहुल— (गोपा की भुजाओं से अपने को मुक्त करके) माँ, तुम तो सदा ध्यान में डूबी रहती हो। मैंने सवेरे कहा था न कि हम सब चन्द्रग्रहण नहाने रोहिणी तट पर चलेंगे।

गोपा— (खोई हुई सी) चन्द्रग्रहण नहाने ?

राहुल— हाँ, और मैं देखता हूँ तुमने अभी तक वस्त्र नहीं बदले हैं।

गोपा— मेरा चन्द्रग्रहण कहाँ छूटा है, बेटा। हाय क्या वह कभी इस जीवन में छूटेगा ? अगर कभी वह समय आया तो मैं वस्त्र भी बदलूँगी। (रोने लगती है।)

राहुल— माँ, तुम तो रोने लगी। लो, मैं भी न जाऊँगा। (ठिठकने का नाट्य)

गोपा— नहीं, बेटा। तुम जाओ। देवी गौतमी के साथ तुम जाओ।

राहुल — और तुम न चलोगी ?

गोपा — (फिर विचारों में खो जाती है। उसी दशा में पूछती है) कहाँ ?

राहुल — फिर बताऊँ ? अगर बताऊँगा तो तुम रोने लगोगी।

गोपा — (याद करके) चन्द्रग्रहण-स्नान को ?

राहुल — हाँ, आज चन्द्रग्रहण स्नान के लिए रोहिणी के तट पर सारी दुनियां उमड़ पड़ेगी। देवी गौतमी ने कहा है कि यह पर्व कई दिनों बाद पड़ा है।

गोपा — बेटा, मेरे भाग्य में पर्व-स्नान लिखा नहीं है। यों तो घर में मेरे लिए नित्य ही पर्व-स्नान है।

राहुल — माँ, तू तो हरएक बात को अपनी दशा से मिलाने लगती है।

गोपा — बेटा, तो किससे मिलाऊँ ? (फिर रोने लगती है।)

राहुल — (दासी से) सुभद्रा, देवी गौतमी से जाकर कह दो नहीं चल रही हूं, और मेरा भी विचार पलट गया है।

दासी — जो आज्ञा, कुमार। (जाना चाहती है।)

गोपा — ठहरो, सुभद्रा। देवी गौतमी के लिए आसन बिछाओ। वे देखो आरही हैं।

[दासी आसन बिछाती है, गौतमी का प्रवेश, गोपा प्रणाम करती है

गोतमी आशीर्वाद देती हैं।]

राहुल — (गोतमी से) माँ तो नहीं चल रही हैं।

गोतमी — मैंने समझ लिया था। इसीसे रथ लौटा ले जाने को कह आई हूँ।

गोपा — माँ, मेरे कारण आप पर्व स्नान के फल से वंचित रहेंगी। कुमार को साथ लेकर आप चली जायें न।

राहुल — दादीजी, देखो माँ क्या कहती हैं? हम लोगों को अकेला ही भेजना चाहती हैं।

गोतमी — पर अकेले कौन जायगा?

गोपा — अकेले क्यों माँ? कुमार को ले जाइये।

गोतमी — गोपा, मेरा तो तीर्थ तू ही है तुझे घर छोड़कर कहाँ जाऊँ? सोचा था, इसी बहाने घुमा-फिरा कर तेरा जी कुछ बहला सकूंगी।

गोपा — सचमुच माँ ऐसा होगा क्या? जी बहल जायगा मेरा? (सिसकती है)

गोतमी — रहने दे बेटी। हम में से कोई नहीं जा रहा है।

राहुल — दादीजी।

गोतमी — वत्स, बोलो।

राहुल — क्या सन्यासी भी इस चन्द्रग्रहण के पर्व पर रोहिणी स्नान को आयेंगे?

गोतमी — अवश्य। गृहस्थ और सन्यासी सभी आवेंगे बेटा।

[गोपा राहुल के मुँह से आगे की बात सुनने के लिए उसकी ओर देखने लगती है।]

राहुल — तब तो यह बड़ा अच्छा अवसर है।

गोतमी — हां, बड़े बड़े ऋषि मुनियों का दर्शन लाभ, प्रकृति का सामीप्य। अच्छा अवसर ही है वत्स।

राहुल — दादीजी, सुभद्रा कहती है कि पिताजी सन्यासी होगये हैं।

[देवी गोतमी इस चर्चा से कुछ व्यस्त सी दिखाई देती है।]

गोतमी — हां।

राहुल — पिताजी भी वहीं आवें वहां, तो हम उन्हें सहज ही पा लेंगे। मां से कहो न दादीजी कि वे जिनके लिए रात दिन रोती रहती हैं उन्हें पाने को हम लोग चलें।

गोतमी — यही भूल है बेटा तुम्हारी। तुम्हारे पिता कभी किसी पर्व-तीर्थ में नहीं आते।

राहुल — (आश्चर्य सहित) किसलिए ?

गोतमी — वे एकान्तवासी तपस्वी हैं वत्स।

राहुल — कैसे जाना आपने ?

गोतमी — उनके लिए कौन कौन सा तीर्थ नहीं छान डाला मैंने। यदि अन्य सन्यासियों की तरह वे पर्वों और तीर्थों मे आते जाते तो कभी का मै उन्हे पा लिए होती।

राहुल — दादीजी, मेरा मन कहता है कि वे रोहिणी किनारे हमे मिलेंगे।

गोतमी — बेटा, यह बात अपनी मा से कह।

गोपा — बेटा, तू ने तो पिताजी को देखा नहीं है तू उनके लिए उतना अधीर क्यों है ?

राहुल — मैं उन्हें तेरे लिए खोज लाना चाहता हूँ।

गोपा — क्यों बेटा ?

राहुल — तू उनके लिए रोती जो रहती है।

गोपा — पर तू उन्हें कैसे पहचानेगा। तू तो चीन्हता नहीं है उन्हें।

राहुल — मैं चीन्हता हूँ। तू ने सन्यासी का चित्र खींचा है वह मैंने देखा है। (गोतमी से) दादीजी, ठीक उस सन्यासी जैसे ही तो हैं पिताजी ?

गोतमी — हाँ, बेटा।

राहुल — तब क्यों न मै उन्हे पहचान लूँगा।

गोतमी — हाँ, यही तो।

राहुल — (गोपा से) मातेश्वरी, अब तो तुम्हें चलना चाहिए। पिताजी कहीं मेरी बात न मानें, न आयें, तो तुम मना लोगी।

गोपा — (अश्रुसिक्त आखों को धरती की ओर गड़ाये रखकर) बेटा, मैं नहीं जाऊंगी। तू हठ न कर।

गौतमी — राहुल वत्स, अब जोर मत दे। तेरी मा की इच्छा नहीं है।

राहुल — ऐसी बात नहीं है दादीजी।

गौतमी — तो क्या बात है?

राहुल — मो पिताजी से रूठ गई हैं।

गौतमी — रूठ गई है?

राहुल — हां, मैं बताऊं, क्यों?

[यशोधरा भींगी आखों को ऊपर उठा कर किंचित् हास्य के साथ राहुल के मुँह की ओर देखती है।]

गौतमी — राहुल वत्स, तू बड़ा चतुर है। तेरी बातों ने तेरी मा को मुग्ध कर लिया है।

राहुल — पिताजी चुपचाप चले गये। मा को यह बात बहुत खटकती है। उस बात से मा इतनी रूठ रही है कि वे आ जाय तो ये मुह से भी न बोलें।

गोपा — राहुल, तुझे बात बहुत आने लगी है।

राहुल — मैंने अपनी ओर से क्या जोड़ा है इसमें मा? क्या सुभद्रा से तुम्हीं ऐसा नहीं बोल रही थीं?

गोपा — क्या मैं इसीलिये सुभद्रा से कोई बात करती हूं कि तू उसे दादीजी से कह दे?

राहुल — (गौतमी से) देख लिया दादीजी। मैंने ठीक

कहा था न कि माँ पिताजी से रूठ रही है।

गोतमी — तू ठीक कहता है, वत्स।

राहुल — परन्तु क्या इतने साल तक इन्हे रूठा रहना चाहिए ?

गोतमी — नहीं रहना चाहिए।

राहुल — तो आप इन्हे समझाइये। ये हम लोगों के साथ चलें। उन्हे तलाश कर घर ले आवें।

गोतमी — यह सब तो वत्स तू ही अच्छी तरह कर सकता है। तू ही माँ को समझा। माँ बेटे के झगडे मे बूढ़ी दादी का पड़ना ठीक नही। (गोतमी का प्रस्थान)

राहुल — (गोपा से) मातेश्वरी, देखो मैं और दादीजी दोनो ही चाहते है कि तू इस बात को भूल जा। प्रसन्न होकर हमारे साथ चल।

गोपा — हमे चलने की जरूरत नहीं है।

राहुल — क्या पिताजी को हम नहीं लाना है ?

गोपा — वे स्वयं आवेंगे।

राहुल — कब ?

गोपा — चन्द्रग्रहण हटने पर।

राहुल — तुम्हे निश्चय है।

गोपा — निश्चय है।

राहुल — और न आये ?

गोपा — कैसे नहीं आये। उन्हे आना पडेगा। वे आयेंगे।

राहुल — वे किससे डरते है जो आयेंगे ?

गोपा — डरने से ही क्या आया जाता है ? जैसे तुम्हें विश्वास है कि पर्व-स्नान के मेले में वे अवश्य मिलेंगे वैसे ही मैं विश्वस्त हूँ कि वे आवेंगे।

राहुल — यहां, तेरे पास ही आवेंगे ?

गोपा — हाँ।

राहुल — पर ऐसी कौन सी वस्तु है तेरे पास माँ, जिसके लिये उन्हें आना होगा ? दादीजी कहती हैं कि उन्हें घर-बार राज-पाट किसी का मोह नहीं है। वे संसार त्यागी, शुद्ध बुद्ध होकर विचरते हैं।

गोपा — वे ऐसे ही हैं बेटा। वे अपने त्याग की महिमा से धन्य हैं।

राहुल — तब भी क्या उन्हें आना होगा तेरे पास ?

गोपा — मैं ऐसा ही मानती हूँ।

राहुल — तब तो माँ तेरी महिमा पिताजी के त्याग की महिमा से भी बढ़ कर है ?

गोपा — नहीं बेटा मैं ऐसा नहीं कह सकती।

राहुल — दादाजी तो कई बार ऐसा कहते हैं ना।

गोपा — क्या कहते हैं दादाजी ?

राहुल — वे कहते हैं तू ने अन्तःपुर में रह कर तपोवन से कठिन तपस्या की है। तेरे तप त्याग ने पिताजी के तप त्याग को फीका कर दिया है।

राहुल — तो क्या दादाजी असत्य कहते हैं ?

गोपा — असत्य नहीं। क्या दादाजी कभी असत्य बोल सकते हैं ?

राहुल — (सहास्य) माँ तू बड़ी भोली है। दादाजी कभी असत्य नहीं बोल सकते और जो वे कहते हैं वह ठीक नहीं है, ये दोनों बातें एक साथ कैसे हो सकती है ?

गोपा — हो सकती है बेटा। तेरे दादाजी मुझे उसी तरह लाड करते हैं जैसे मैं तुझे करती हूँ। इसीसे वे मेरे छोटे से काम को भी बड़ा मान देते हैं।

राहुल — पर तू ने इतने सालों से केशों में कघी नहीं की है। इस मैली पुरानी साडी को बरसों से नहीं बदला है। अपने महल मे कुशासन और चन्दन के पाटे के सिवा कुछ रहने नहीं दिया है। यह सब क्या त्याग नहीं है तेरा ?

गोपा — जो मुझे नहीं सुहाता है उसे हटा देना त्याग नहीं होता। तपोवन के असह्य कष्टों से इसका कोई मेल नहीं है बेटा।

राहुल— मेरी समझ मे नहीं आता कि फिर क्यों पिताजी तेरे पास दौड़े आयेंगे ? दीन हीन गोपा को क्यों नहीं शुद्ध बुद्ध महिमामय भगवान की खोज मे चलना चाहिये ?

गोपा — गोपा दीन हीन नहीं है। यह तू क्या कहता है बेटा ? तेरे पिताजी ने कितनी ही बड़ी सिद्धि को प्राप्त कर लिया हो पर तेरी माँ के पास जो धन है उसके लिये उसके आगे आकर, उन्हें हाथ फैलाना ही होगा।

राहुल — यह धन कौन सा है माँ ? जिसे तू ने मुझसे भी अब तक छिपा रक्खा है ?

गोपा — वह धन तू ही है मेरे लाल। (गोपा राहुल को गोद में भर लेती है। सिसकियों और आंसुओं से वातावरण व्याप्त हो जाता है।) अब भी क्या गोपा रंकिनी है बेटा !

राहुल — पिताजी को आना होगा। अपनी सिद्धि को सार्थक करने के लिये उन्हें आना होगा।

गोपा — क्या सचमुच आना होगा बेटा ?

राहुल — निश्चय ही आना होगा। आये बिना वे नहीं रह सकते माँ।

गोपा — तो मैं उस अटल विश्वास को बनाये रक्खूं ?

राहुल — उस विश्वास के सत्य होने में मुझे थोड़ा भी संशय नहीं। (शुद्धोदन का प्रवेश)

शुद्धोदन — मुझे भी संशय नहीं।

(गोतमी का प्रवेश)

गोतमी — किसी को भी संशय नहीं।

[गोपा मुँह उठा कर दोनों की ओर देखती है।]

शुद्धोदन — गौतम कपिलवस्तु की ओर आ रहा है।

गोतमी — मेरा लाल आ रहा है (गोपा से) तेरी तपस्या सफल हुई है देवी।

गोपा — बुद्धदेव आ रहे हैं ! ऐं, बुद्धदेव आ रहे हैं। मेरे

भगवान, मेरे स्वामी, मेरे शास्ता। मुझ अभागी का चन्द्रग्रहण छूट रहा है आज।

[धीरे धीरे राहुल को जकड़नेवाली उसकी बाहें शिथिल होती हैं और उसे मूर्छा आ जाती है। सुभद्रा गुलाबजल लाने दौड़ती है। गौतमी जंघा पर गोपा का सिर रख लेती है। शुद्धोदन वस्त्र से उसके मुख पर हवा करते हैं।]

(परदा)

रचनाकाल— मई १९४९

वीणाधारिणी

नट

बुद्धदेव	बौद्धधर्म के संस्थापक
आनन्द	बुद्धदेव का शिष्य
शुचिता	पुत्र शोक से दुखी एक नारी
पटाचारा	एक भिक्षुणी
सौभद्र	बुद्धदेव का एक शिष्य
कृशा गोतमी	मृत बालक की माता

[भगवान बुद्ध आसन पर विराजमान। आनन्द आदि कई श्रमण शिष्य उनके सम्मुख बैठे भगवान की वाणी का अमृत पी रहे हैं। भगवान का लक्ष्य पुत्र शोक व्यथिता एक नारी, जिसके आगे-पीछे कोई नहीं। अपनी एकलौती संतान के अवसान पर जो मार्ग में विलाप कर रही थी और जिसे संघ की एक भिक्षुणी भगवान के चरणों में ले आई]

बुद्धदेव — शुचिता के दुख की ओर देखो, आनंद। इसे अभी अभी पुत्र शोक सहना पड़ा है।

आनन्द — पटाचारा से बढ़ कर तो उसका दुख नहीं हो सकता। वह तो सर्वस्व गंवाकर आई थी।

बुद्धदेव — उसकी अकेली संतान भी इसका सर्वस्व ही थी, आनन्द।

आनन्द — 'आ शुचिता' कहकर जिस क्षण भगवान् ने इसे बुलाया उसी क्षण उसके जन्म जन्म के दुख निवृत्त हो गये !

बुद्धदेव — अपनी सहज साधना से सत्य का परिबोध करने वाली भगवती पटाचारा ने पद प्रक्षालन करते करते ज्ञान लाभ किया। एक बार, दो बार, तीन बार पैरों का धोवन बहते बहा, फिर बहा और फिर उसके आगे अन्तर खुल गया। इसी

तथ्य का अनुशीलन करने से उन्हें प्रकाश मिला। उन्होंने सोचा-इसी तरह प्राणी पहली अवस्था मे मरते हैं, दूसरी अवस्था में मरते हैं, तीसरी अवस्था मे भी मरते हैं। सभी मरणशील हैं, सभी अनित्य हैं। मोह और ममता के प्रति वैराग्य का उदय हुआ। आसक्ति की भावना का नाश होगया। दुर्बलता जाती रही। वे विजयिनी हुईं।

शुचिता — महात्मन्, आप लोग जिन्होंने ससार का त्याग कर दिया है गृहस्थ के दुख-सुख से बहुत ऊँचे उठ गये हैं। आप धन्य हैं।

बुद्धदेव — देवी, जाओ बुद्ध-शासन मे दृढ़, विमुक्त चित्त भगवती पटाचारा की अमृतवाणी का पान करो। तुम्हारा कल्याण होगा। तुम्हारा चित्त शांत होगा। उद्वेग, क्षोभ और शोक का नाश होगा। लो, वे यहीं आ रही हैं।

[पटाचारा का प्रवेश]

पटाचारा — पति पुत्र, मा-बाप सबसे वियुक्त निराधार हतभाग्य नारी को शांति के अनंत साम्राज्य मे प्रतिष्ठित करने वाले करुणानिधान विश्व त्राता भगवान् बुद्धदेव की जय हो।

बुद्धदेव — (हाथ ऊँचा करके आशीर्वचन करते हैं) कल्याण हो देवी, अपने अमृतोपम उपदेश से दुखियारी शुचिता को कल्याण मार्ग मे प्रवृत्त करो। (शुचिता की ओर इंगित करते हैं)

पटाचारा — भगवान के संमुख में उपदेश करूं ? अच्छी बात है, आओ। (शुचिता को पास में लेजाकर) बहिन, अशांतों का दमन करने वाले, पूर्ण निर्भय पुरुष उन्हीं सम्यक संबुद्ध की करुणा ने मुझ जैसी अभागिनी के संताप का एक क्षण में नाश कर दिया। पुत्रशोक मेरी शान्ति अब मेरे चित्त को दुखी नहीं करता।

शुचिता — (आंखों से आंसुओं को पोछती तथा पटाचारा को प्रणिपात करती हुई) मेरा लाल, मेरा लाड़ला, मेरा सुहाग ! हाय ! मैं कैसे धीरज धरूं देवी ! इतनी शान्ति इतनी सद्बुद्धि कहां से लाऊं ?

पटाचारा — यही दशा मेरी भी बहिन। इससे भी बुरी, इससे भी गई-बीती।

शुचिता — मेरा मन तो शान्त नहीं हो रहा देवी ! हृदय भीतर से विलाप कर रहा है। मैं बड़ी अभागी हूं। भगवान के आश्रय में भी शांति नहीं पा रही।

पटाचारा — अपना अपना कह कर तुम जिसके लिये रो रही हो उसके सम्बन्ध में तुम यह भी तो नहीं जानतीं कि वह किस पथ से आया था और किस पथ से चला गया ? फिर विलाप क्यों कर रही हो ? और यदि वह मालूम भी हो तो भी तुम क्यों रोओ ? क्योंकि यह तो संसार का धर्म ही है। जो बिना पूछे आया था और बिना पूछे चला गया उसके लिये रोना क्या ? सोचो तो सही, तो तुम किस के लिये रही हो

आया था तो क्या वह लौट कर नहीं जायगा ? जो एक मार्ग से आता है उसे दूसरे मार्ग से जाना ही होता है। ऐसे प्राणी के लिए रोने धोने और विलाप करने से कोई क्या पायेगा ? जिस रूप मे आना उसी रूप मे चला जाना फिर शोक किसके लिए ? बोलो, बताओ। चुप क्यों हो ? शुचिता, बहिन।

शुचिता — (पटाचारा को श्रद्धा सहित सिर झुकाकर) भगवती की निर्मल वाणी का प्रसाद पाकर मैं कृतार्थ हुई। मेरी आंखें खुल रही हैं। मैं देख पा रही हूँ कि मेरा शोक कितना निराधार था। जो मेरा था ही नहीं उसे अपना मान कर मैं दुखी हो रही थी। मोह का वह परदा आपने उठा दिया। आर्यमार्ग का अनुसरण करने वाली देवी, मुझे अपनी छाया मे स्थान दो। इस जीवन और इस काया को पवित्र करने के हेतु सुगत भगवान् ने निर्मल विचारों की जो मन्दाकिनी बहाई है उसमे स्नान करने की मुझे आज्ञा दो साध्वी।

पटाचारा — तो बोलो, आज मैं भगवान् बुद्ध, उनके धर्म तथा संघ की शरण लेती हूँ।

शुचिता — आज मैं भगवान बुद्ध, उनके धर्म तथा संघ की शरण लेती हूँ।

[आश्रम के बाहर कोलाहल सुनाई पड़ता है। सब लोग उत्सुक होकर देखते हैं। पटाचारा और शुचिता भी देखने को जाती हैं।]

आनन्द — (उच्च स्वर से) कैसा कोलाहल है सौभद्र ?

सौभद्र — एक स्त्री मृत बालक को चिपटाये आश्रम में घुसी आ रही है। श्रमण लोग अशुचिता के विचार से उसे रोक रहे हैं। परन्तु वह मानती कब है ? पता नहीं भगवान् के पास वह मुर्दे को लाकर क्या करेगी ? मूर्ख नारी।

आनन्द — गुरुदेव से निवेदन करूं।

[शीघ्रता से आगे बढ़ कर शांति-समाधि में लीन बुद्धदेव से निवेदन करता है।]

आनन्द — भगवान, मुर्दे सहित एक स्त्री आश्रम के भीतर चली आ रही है।

बुद्धदेव — रोक क्यों रक्खा है ? आने दो उसे।

आनन्द — मुर्दे को भी ले आने दें ?

बुद्धदेव — मुर्दे से उसका मोह है तो ले आने दो।

आनन्द — (सौभद्र को इशारे से पास बुला कर) सौभद्र ले आओ उसे।

सौभद्र — मुर्दे सहित ?

आनन्द — हां।

सौभद्र — गुरुदेव का आदेश है ?

आनन्द — और क्या आनन्द ऐसा आदेश देने का साहस कर सकता है ?

सौभद्र — (सौभद्र इशारे से बाहर लौट जाता है) यह

आ रही है। आनंद, वह आ रही है। कैसी आंधी सी चली आ रही है।

आनन्द — (देख कर) अरे, इतनी बड़ी लाश। क्यों यह लिये है उसे भला ?

[कृशा अपने बालक की लाश को भुजाओं में भरे प्रवेश करती है। वस्त्र उसके अस्तव्यस्त हो रहे हैं। बाल बिखरे हैं। मुख की कांति विकृत है। लंबे लंबे डग धरती हुई वह आती है।]

कृशा — मैं गरीबनी अपने बच्चे को दवा नहीं दे सकी, उसका उपचार नहीं कर सकी। मेरी आंखों का तारा औषध बिना इस दशा को पहुँच पाया। कोई इसे औषध दो, कोई इसे बचा लो। कोई दुखिया कृशा पर दया करो।

आनन्द — किसको औषध दिलाती हो कृशा।

कृशा — अपने बच्चे को, अपने इस लाल को। श्रमण इसे औषध दो। (मृत बच्चे का मुँह चूमती है।)

आनन्द — इस शरीर में अब प्राण नहीं है कृशा। प्राण बिना शरीर मिट्टी होता है। यह तो मिट्टी है, तुम्हारा बच्चा यह नहीं है।

कृशा — यह मिट्टी है, मेरा बच्चा नहीं है।

आनन्द — यही बात है। मिट्टी के लिए वृथा मोह मत करो। मिट्टी को मिट्टी में मिल जाने के लिए छोड़ दो।

कृशा — श्रमण मैं विनय करती हूँ। माता की दृष्टि से एक बार इस शरीर को देखो। फिर कहो कि यह मिट्टी है।

आनन्द — इस दुनिया में सत्य को सत्य माने बिना निस्तार नहीं। इस मिट्टी से चिपटी रह कर तुम पुत्र को नहीं पा सकतीं।

कृशा — मैं पा सकती तो यहां क्यों आती भाई? मुझे भगवान् के पास ले चलो। वे मेरी व्यथा को समझेंगे। मेरे बच्चे को औषध देंगे। अमृतसंजीवनी पीकर वह उठ बैठेगा।

आनन्द — भगवान् इधर विराजते हैं कृशा!

[कृशा को बुद्धदेव के सामने कर देता है।]

कृशा — भगवान्, मेरे पुत्र को औषध दो।

बुद्धदेव — अवश्य दूंगा।

[हाथ से शांत होने का इशारा करते हैं।]

कृशा — मैं शांत कैसे रहूं देव, मेरा बच्चा हाय, वह सांस भी तो नहीं लेता। एक औषध बिना वह यों हो रहा है — मेरा लाल! हिलता डोलता भी नहीं!

बुद्धदेव — कृशा, तुम सचमुच इस बालक को जीवित देखना चाहती हो?

कृशा — (कुछ शांत होकर) हे अमृतपुत्र, आप भी ऐसा पूछते हैं! कौन ऐसी मां होगी जो अपने बच्चे को हंसता-खेलता न देखना चाहे।

बुद्धदेव — यह ठीक है, परन्तु सब माताएं तभी तक बच्चे से मोह करती हैं जब तक वह जीवित है। मर जाने पर तुम्हारी तरह कोई उसे चिपटाये नहीं फिरती।

कृशा — हृदय नहीं मानता है मेरा। मैं उसे हँसता खेलता देखना चाहती हूँ भगवन्।

बुद्धदेव — अलौकिक बात चाहती हो तुम।

कृशा — इतना भी अलौकिक नहीं कर सकते हैं आप। आप तथागत कहलाते हैं अमृतपुत्र। बड़ी प्रशंसा सुन कर मैं आई हूँ भगवन्। आप भी मुझे निराश करेंगे ?

बुद्धदेव — निराश करूँगा, यह मैंने कहा है ?

कृशा — तो हे दयानिधान, मेरे ऊपर तरस खाओ। मेरे बालक के गले मे दो बूंद अमृत डाल दो। वह जी उठे।

बुद्धदेव — वही होगा। कृशा गोतमी, वही होगा।

कृशा — कृशागोतमी आपके चरणों पर गिरती है देव। जल्दी करो। शीघ्रता करो। एक क्षण की भी देर असह्य है स्वामी।

बुद्धदेव — दुनिया के आदि से अब तक जो कभी नहीं हुआ वही तुम चाहती हो कृशा।

कृशा — जो कुछ भी हो। आप जल्दी करें कृपानिधान। मेरा धीरज छूटा जा रहा है। साक्षात् भगवान् की शरण आने पर भी इतनी देर ?

बुद्धदेव — कुछ देर नहीं है अभी एक क्षण मे होगा। वही होगा जो इस मृत्युलोक मे कभी नहीं हुआ।

कृशा — धन्यवाद। धन्यवाद। जल्दी करें प्रभो !

[बालक की लाश को पृथ्वी पर लिटा देती है।]

गुरुदेव — अभी लो, लेकिन ज़रा इतना तो करो कृशा गोतमी—

कृशा — गुरुदेव, आज्ञा कीजिये । मैं अपने बच्चे का जीवन पाने के लिये क्या नहीं कर सकूंगी ? बोलिये, बोलिये प्रभो ।

गुरुदेव — कोई बड़ी बात नहीं है । तुम जाकर किसी गृहस्थ के घर से थोड़ी सी सरसों ले आओ । ले आ सकोगी ?

कृशा — (प्रसन्न होकर) यह कौन बड़ी बात है । मैं अभी आती हूं । [जाने को उद्यत होती है]

गुरुदेव — परन्तु सुनो, देखो— सरसों ऐसे घर से लाना जहां कभी कोई मरा न हो ।

कृशा — यही करूंगी ।— अभी लेकर आती हूं । अभी, दो क्षण में ।

[शीघ्रता से निष्क्रमण, आनंद का प्रवेश]

आनन्द — देव, मृत बालक जी उठेगा ?

गुरुदेव — कृशा सरसों ले आयेगी ?

आनन्द — यदि ले आये ।

गुरुदेव — तो जी उठेगा ।

आनन्द — अलौकिक बात होगी ; लोगों के विश्वास हिल उठेंगे ।

बुद्धदेव — थोडा ठहरो, देखो। बुद्ध का प्रयास विश्वासों को हिलाने के लिए नहीं जमाने के लिए है।

आनन्द — किन्तु गुरुदेव।

बुद्धदेव — बुद्ध जादू नहीं जानता आनन्द।

आनन्द — यह तो जादू से भी विस्मयकर होगा।

बुद्धदेव — विस्मय की उसमे कोई बात नहीं है आनन्द। शुद्ध सत्य को लेकर अभी कृशा आनेवाली है।

आनन्द — समस्त जेतवन मे और नगर मे भी इस समय यही चर्चा है भगवान् कृशा के मृत बालक को जीवनदान दे रहे है।

बुद्धदेव — (आश्चर्य) बात यहा तक पहुँच गई है।

आनन्द — हा गुरुदेव, देखिये न, चारों ओर से जनसागर उमडा चला आरहा है।

बुद्धदेव — (दृष्टि घुमाकर देखते है) आनन्द तुम ठीक कहते हो। परन्तु यह छोटी सी बात, उसके लिये दुनिया इतनी आतुर हो रही है।

आनन्द — यह क्षुद्र बात नहीं है प्रभो। असंभव को संभव होते देखने से बढकर बड़ी और अचरज की बात क्या हो सकती है।

बुद्धदेव — (गंभीरता से) हूँ।

आनन्द — परन्तु कहीं ऐसा न हो—

बुद्धदेव — अर्थात सबको निराश जाना पड़े। कृशा का मृत्यु को प्राप्त हुआ बालक जी न उठे ?

आनन्द — हां भगवान, यदि ऐसा हुआ तो बड़ा अपवाद फैलेगा।

बुद्धदेव — डरने की कोई बात नहीं है आनन्द। कृशा गोतमी की सफलता असफलता पर सब कुछ निर्भर करता है। —बड़ी देर लगाई उसने। देखो आरही है कि नहीं।

आनन्द — (अच्छी तरह दूर तक चारों ओर देखकर) अभी तो कहीं नजर नहीं आ रही है।

बुद्धदेव — कहां से नजर आवे। बेचारी मोहान्ध नारी !

[साधु साध्वियों और नर नारियों की भीड़ से जेतवन संघाराम भर जाता है। लोग उच्च स्वर से चिल्लाते हैं 'भगवान् बुद्ध की जय हो।' कुछ विशिष्ट व्यक्ति आगे बढ़कर वहां तक आ जाते हैं जहां कृशा का मृत बालक पड़ा है। कोई कोई यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि बालक अभी मरा है या नहीं।]

आनन्द — (खड़े होकर हाथ के इशारे से भीड़ को बैठने का आदेश करता है) बैठ जाइये सब। भगवान तथागत की इच्छा है कि सब लोग दूरी की तरफ से शान्ति से बैठ जायँ।

[अधिकांश लोग बैठ जाते हैं अचानक भीड़ में कोलाहल मचता है। सब कहते हैं 'कृशा आरही है। कृशा आरही है।']

आनन्द — (आंखों के आगे हथेली की छाया करके दूर से आती कृशा को पहचानकर) कृशा गोतमी आरही है देव।

बुद्धदेव — (निर्विकार भाव से) आने दो।

[ज्यों ज्यों कृशा समीप आती जाती है भीड़ में कोलाहल बढ़ता जाता है। कृशा जेतवन में प्रवेश करके भगवान् बुद्ध के समीप आ पहुँचती है।]

आनन्द — (कृशा को लक्ष्य कर) कृशा गोतमी, भगवान् इधर विराजमान हैं।

[कृशा भगवान् के सामने जाती है]

बुद्धदेव — (गंभीर स्वर से) कृशा गोतमी, आओ। मेरा ख्याल है अवश्य ही तुम सरसों ले आई होगी।

कृशा — (अपने दोनों खाली हाथ ऊपर उठाकर) कहां ले आई भगवन।

बुद्धदेव — (कुछ आश्चर्य का भाव दिखाकर) क्यों, अरे इतने बड़े जनाकीर्ण नगर में से तुम एक मुट्ठी सरसों भी नहीं ला सकी।

कृशा — (निराश भाव से) नहीं भगवन् नहीं ला सकी। मैं एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूम आई। कहीं कोई ऐसा घर नहीं मिला जहां सरसों मिल सकती।

बुद्धदेव — यह कैसी बात। इतने बड़े नगर में मुट्ठी भर सरसों नहीं।

कृशा — सरसों बहुत है, पर मृत्यु से अछूता घर एक भी नहीं।

बुद्धदेव — मृत्यु से अछूता एक भी घर नहीं।

कृशा — मृत्यु सभी घरों में झांक चुकी है भगवन्। कहीं से पुत्र, कहीं से पति, कहीं से पत्नी, कहीं से पुत्री, कहीं से पिता, कहीं से माता को यह ले जा चुकी है।

बुद्धदेव — तब।

कृशा — तब क्या, मृत्यु का चक्र बराबर चल रहा है। कोई भी गृहस्थ उससे मुक्त नहीं है।

बुद्धदेव — कृशा गोतमी के बालक का क्या होगा ?

कृशा — होगा ? जिस शरीर का मृत्यु अनिवार्य परिणाम है उसका क्या होने को है ? उसके लिए शोक ही वृथा होता है।

बुद्धदेव — (प्रसन्न होकर) इतना समझ गई हो तुम !

कृशा — भंते ! आपकी कृपा से मुझे सहज ही ज्ञान का आलोक मिल गया। अमरत्व को देनेवाली शुभ दृष्टि से मैं इस समय सम्पन्न हूँ।

बुद्धदेव — (मृत शरीर की ओर दृष्टि करके) इसके लिए तुम्हें शोक नहीं है अब ?

कृशा — शरीर जो मृत्यु का ग्रास है उसके लिए मैं शोक करूँ ? क्यों न मैं उस आत्मा का अभिनन्दन करूँ जो नित्य है, जो सत्य है, जो अमृत है।

बुद्धदेव — यही हो, यही हो। अमरत्व को देने वाले आर्य अष्टांगिक मार्ग की अधिकारिणी वनो, कृशा।

कृशा — भगवान मुझे प्रव्रज्या दें। मैं बुद्ध, धर्म और संघ की शरण लेती हूँ।

बुद्धदेव — कृशा, कल्याणी। तुम रुक्त चीवरधारिणी भिक्षुणियों मे अग्रणी वनो। धर्म में तुम्हारी अटल दृष्टि हो। अमृत पुत्रिके, जाओ मृत्यु और शोक की इस दुनियां में तुम शाश्वत आनन्द की ज्योति जगाओ।

कृशा — (प्रणिपात करती हुई) बुद्ध की जय हो, धर्म की जय हो, संघ की जय हो।

[उपस्थित जनसागर में से रह रह कर यही वाक्य दोहराये जाते हैं। तुमुल कंठ से निसृत उद्घोष से आकाश गूंज उठता है। आनन्द आकर भगवान् के चरणों में गिरता है।]

बुद्धदेव — क्यों आनन्द, क्या बात है ?

आनन्द — संशय के बादल छिन्न भिन्न हो गये हैं देव। मुझ अश्रद्धालु को क्षमा करें।

बुद्धदेव — जीवन की प्रत्येक घटना एक नया प्रकाश लाती है। आँखें खोलकर चलो आनन्द। ज्ञान की प्रकाश-किरण

का रास्ता किसी तरह के आग्रह से बन्द मत करो।

आनन्द — जो आज्ञा, भंते!

(पुनः प्रणिपात)

[बुद्ध अपना हाथ बढ़ाकर आनन्द के सिर पर रख देते हैं। एक बार फिर बुद्धदेव का जय जयकार होता है।]

(परदा)

रचनाकाल—सितम्बर १९४९

लाख का घर

पात्र

कुंती	पाडव माता
	स्मृति पात्र
छाया	हत्या ब्राह्मण का प्रेत
युधिष्ठिर	कुंती का ज्येष्ठ पुत्र
पाचाली	पाडवों की स्त्री, पाचाल देश की राजकुमारी
अर्जुन	युधिष्ठिर का भाई, महाभारत का प्रसिद्ध योद्धा
भीम	कुंती का पुत्र, महाभारत का योद्धा

अर्द्ध रात्रि

[निबिड़ अन्धकार, घनघोर शून्यता में सारा जगत सो रहा। वायु स्तब्ध। वृक्ष मूक। नदी का प्रवाह स्थिर। माता कुंती की आंखों में निद्रा नहीं। हृदय, मन और नाड़ी संस्थान अपूर्व हलचल से आन्दोलित। महाभारत के यशस्वी विजेता पुत्रों की जननी अपने शयनकक्ष से निकल कर प्रकृति की गोद में हृदय का मथन करती हुई डोल रही है।]

कुंती — धर्मराज, धर्मराज। (कोई उत्तर न पाकर) आखिर धर्म की जय हुई। अधर्म का नाश हुआ। इसके सिवा और क्या होना था? राजमाता कुंती के लिये उसके यशस्वी पुत्रों ने धर्म का उद्धार किया। आसमुद्र पृथ्वी के स्वामियों की माता को आज किस बात की कमी है? उसके इशारे पर आज उसके पराक्रमी बेटे धरती से स्वर्ग तक स्वर्णपथ तैयार करा सकते हैं।— धर्मराज, धर्मराज बेटा, तुम्हारी माता सदेह स्वर्ग जाना चाहती है। धर्म का ऐसा सेतु बनाओ कि उसका मार्ग सुखकर हो।

(उसके सामने सहसा एक स्त्री छाया प्रगट होती है।)

छाया — पांडवजननी, पहचानती हो मुझे?

कुंती — तुम कौन हो ?

छाया — मैं कौन हूँ ? तनिक मेरे पास आकर देखो। अवश्य पहचानोगी।

कुंती — नहीं, तुम्हारी आकृति से मेरा कोई परिचय नहीं।

छाया — है, राजमाता हो जाने से मुझे भूल जाओ ऐसा संभव नहीं।

कुंती — मुझे ख्याल नहीं आता कि तुम्हें कहीं देखा हो।

छाया — अच्छा, इधर देखो। इन्हें तो पहचानती हो।

(इशारा करती है।)

[नई उमर के पाँच युवकों की छाया प्रगट होती है। अवस्था के क्रम से एक के पीछे दूसरा आ आकर उपस्थित होता है— मौन, मूक।]

कुंती — ये कौन हैं ?

छाया — इन्हें भी नहीं चीन्हतीं ?

कुंती — नहीं।

छाया — (खिलखिलाकर हंसने के उपरान्त) अद्भुत, राजमाता कुंती की स्मृति इतनी क्षीण कैसे हो गई ?

कुंती — (क्रुद्ध होकर) शिष्टाचार विहीन नारी, जाओ अपना रास्ता लो।

छाया — राजमाता, ऐसा न कहो। कड़वी वाणी आपके बड़प्पन के अनुरूप नहीं है।

कुंती — (चौंककर) गई नहीं तुम ?

छाया — नहीं। मैं तो जाने के लिये नहीं आई हूँ।

कुंती — जाओगी नहीं ?

छाया — नहीं ।

कुंती — (रात्रि की शांति को दहलाती हुई) भीम, भीम !

छाया — भीम से मैं डरती नहीं हूँ ।

कुंती — अर्जुन, अरे ओ पार्थ, तेरा गांडीव कहां गया रे ?

छाया — गांडीव हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता— राजमाता !

कुंती — अभी हमारा धर्म इतना क्षीण नहीं हुआ है । गांडीव के बिना ही केवल धर्म के प्रताप से तुम्हें ठीक किया जा सकता है ।

छाया — धर्मराज की माता, ओह धर्म की बात कहती हो तुम ।

कुंती — धर्म की बात हम नहीं करेंगी तो कौन करेगा ? धर्म का सहारा लिए बिना क्या कोई इतना बड़ा युद्ध जीत सकता है ?

छाया — धर्म और पुण्य के बल पर ही तुमने महाभारत जीता है ?

कुंती — देखा नहीं तुमने ? लोक लोकान्तर में विख्यात धर्मराज की धर्मपरता के बिना क्या यह सब संभव था ।

छाया — हा- हा- हा ।

कुंती — तुम धर्म का उपहास करती हो ?

(मुँह तमतमा जाता है ।)

छाया — राजमाता, वैसों से जिसे तुमने खरीदा है वह धर्म नहीं है। उस धर्म से महाभारत जीतने का तुम्हारा गर्व मिथ्या है।

कुंती — क्या कहा ?

छाया — विभ्रमित न हो कुंती ! सुनो हम गरीबों के रक्त पर आज तुम्हारे साम्राज्य की नींव खड़ी है।

कुंती — छिः छिः। धर्मराज्य के लिए ऐसे कुवाच्य।

(कानों पर हाथ रखती है)

छाया — कानों को कितना ही बन्द कर लो रानी, यह तथ्य तुम्हें सुनना और मानना पड़ेगा कि साम्राज्य का यह वैभव तप और त्याग से प्राप्त नहीं हुआ है।

कुंती — तुम्हारे आशीर्वाद से हुआ है क्या ?

छाया — हमारे आशीर्वाद से न सही हम जैसों के बलिदान से सही। हमारे रक्त की होली खेल कर धर्म की यह ध्वजा इतनी ऊँची फहराई है।

कुंती — इस तरह उद्दंड भाव से मुंह चलाये जानेवाली तुम कौन हो नारी ?

छाया — गर्व के पहाड़ पर बैठी हुई तुम्हें बताना ही पड़ेगा कि मैं कौन हूं। अच्छा तो देखो— (इशारा करती है शून्य में एक विशाल भवन की रूपरेखा प्रगट होती है।)

कुंती — ([illegible] चिल्लाती है) लाख का

घर। वारणावत में लाख का घर। दुष्ट शकुनी की रचना। ओह कैसा जाल, कैसा भयानक षड्यन्त्र था वह।

छाया — मैंने कहा था न कि तुम भूल नहीं सकती मुझे।

कुंती — पर तुम कौन हो ? लाख के घर से तुम्हारा संबंध ?

छाया — मुझसे मत पूछो, देखती जाओ— (पाचों पांडव और कुंती लाख के घर में ब्रह्मभोज में लगे दिखाई देते हैं। एक गरीब ब्राह्मणी अपने पाच पुत्रों के साथ आती है।)

कुंती — (सिर से पैर तक पसीने से तर हो जाती है।) सत्या ब्राह्मणी। (छाया की ओर देखती है।) अरे ! तुम्हीं तो हो— तुम्हारी ही प्रतिमूर्ति तो सत्या है।

छाया — (मुँह से कुछ न कहकर फिर उसी ओर इङ्गित करती है। सत्या ब्राह्मणी को भोजनोपरान्त ठहरने के लिये कुंती बड़े आग्रह से रोक रही है। सुन्दर रेशमी बिछौनों पर माँ बेटों को शयन करने को कहती है। वे सो जाते हैं। अर्द्धरात्रि का दृश्य। भीम मशाल लेकर आग लगाते हैं। चारों पांडव और कुंती उसे मदद कर रहे हैं। आग भयंकर वेग से जलती है। भीतर ब्राह्मणी सहित उसके पाचों लड़के छटपटाते हुए जलते हैं।) देखो देखो कुंती, अपने धर्म के कुकृत्यों को जिनके लिये तुम्हारे गर्व का पार नहीं।

कुंती — (आवेश में आग की ओर दौड़ती हुई) बचाओ, बचाओ। सत्या और उसके बेटों को।

छाया — हा-हा-हा, राजमाता कुन्ती ! अधीर मत हो ! इन्हीं धर्म और पुण्य के खंभों पर सदेह स्वर्ग जाने का सेतु बनेगा ! बुलाओ धर्ममूर्ति अपने धर्मराज को, वह भी तुम्हारे साथ साथ अपने कीर्तिकलापों की असलियत का अवलोकन कर ले।

कुंती — धर्मराज, धर्मराज, बेटा दौड़ो। अपनी माता के विश्वास की भीत को ढहने से पहले ही बचालो।

छाया — (अपने बेटों से) सत्यासुतो, अपना अभियोग-पत्र उपस्थित करो। प्रपंच की आधारशिला पर रक्खी हुई विश्वास की नींव डगमगाने लगी है।

सत्यासुत — (हाथ ऊँचा करके चिल्लाते हैं) पाण्डवों के जिस राज्य को धर्मराज्य कहा जाता है उस पर ब्रह्महत्या जैसे सैकड़ों कलंक लगे हुए हैं।

कुंती — यदि यह सत्य है, यदि यह प्रमाण है तो स्वर्ग सेतु के बजाय नर्क-द्वार वरण करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं ? अरे, कितना मिथ्या समझा था मैंने !

छाया — मिथ्या, एकान्त मिथ्या। एक गरीब ब्राह्मणी और पांच ब्राह्मणकुमारों की हत्या करके तुमने अपने प्राण बचाये !

कुंती — मुझे दुःख है सत्या, मुझे दुःख है।

छाया — दुःख, हा-हा। उन पांच आदमियों को नहीं

होता जिनका इतिहास इसी तरह के पापाचारों से निर्मित होता है।

कुंती — तो क्या हमारे जीवन में गर्व करने लायक कुछ भी नहीं है ?

छाया — कुछ भी नहीं, एक अंश भी नहीं।

कुंती — तो इस अकारण जीवन को जीकर मैं क्या करूँ ?

छाया — तुम्हारा और तुम्हारे यशस्वी बेटों का जीवन पाप की एक लम्बी कहानी है। दुनिया में कितना ही दर्प और कितना ही वैभव प्रदर्शित करो, आखिर इस प्रवंचना को नष्ट होना है।— इतनी जल्दी तुम अपने पापों से छूट नहीं सकतीं।

[छाया अपने पाँचो बेटों सहित अदृश्य हो जाती है।]

कुंती — (आकाश को कंपित करनेवाली चीख से रात्रि की भयंकरता को अनन्त गुणा कर देती है।) बचाओ, बचाओ। पार्थ, इस भयंकर आग से जो चारों ओर लग रही है अपनी माता की रक्षा करो।

[इधर उधर भागती है। परदे के पीछे कोलाहल होता है। अर्जुन, पांचाली, भीम, युधिष्ठिर सभी दौड़ते भागते मंच पर आते हैं।]

अर्जुन — माता, कहाँ हो ?

पांचाली — माता, कहाँ हो ?

भीम — माता, कहां हो ?

युधिष्ठिर — मातेश्वरी, हम आ गये ।

कुंती — रक्षा······ करो ।

[संज्ञाशून्य होकर धरती पर गिरती है । सब दौड़ कर हाथों हाथ उसे उठाते हैं ।]

(परदा)

रचनाकाल— मई १९४१

हठ

नट

राम	अयोध्या के राजा दशरथ के बेटा
कौशल्या	राम की माता
सीता	राम की स्त्री
मांडवी	राम के भाई भरत की स्त्री
उर्मिला	राम के छोटे भाई लक्ष्मण की स्त्री

दासी आदि

अयोध्या का राजमहल

सूर्योदय से पूर्व

(रेशमी वस्त्र पहने सीता इधर से उधर फिर रही हैं । जहां कोई मिल जाता है उसे आदेश देती हैं । घर की दासियां भी काम में लगी हैं । भीतर से एक दासी आती है ।)

दासी — स्वामिनी, माता कौशल्या ने कहलाया है कि आप रात भर जागती रही हैं । थोडा विश्राम कर लें ।

सीता — माताजी ने कौन आँख लगा ली है ? वे भी तो जागती रही हैं।

दासी — आपको अभी अभिषेक के कार्य मे बैठना होगा ।

सीता — जानती हूँ, पर अभी कितने काम पडे हैं ।

दासी — हम लोगों को बता दीजिये । हम कर लेंगी ।

सीता — अवश्य, लेकिन मेरा रहना तो जरूरी है ।

दासी — आपका एक बार आदेश ही काफी है ।

सीता — अच्छा देखो, अभिषेक के लिए आवश्यक सामग्री पहुँच गई है । केवल तीर्थजल, दूर्वा, रोली और अक्षत भेजने शेष हैं ।

दासी — जो आज्ञा ।

सीता — और सुनो। देखो, आर्यपुत्र गुरु वशिष्ठ का आशीर्वाद पाकर ज्यों ही आयें त्यों ही मुझे बताना।

[जाने का नाट्य

दासी — जो आज्ञा।

सीता — (लौटकर) देखो, अभिषेक के समय पहनने के लिए आर्यपुत्र के वस्त्र कहाँ रक्खे हैं तुम्हें मालूम है। देवर लक्ष्मण जिस समय माँगें तुरन्त दे देना।

दासी — जो आज्ञा।

सीता — मांडवी, उर्मिला और श्रुतिकीर्ति को कहला दो कि वे जरा मुझसे अभी आकर मिल लें। पीछे निमन्त्रित महिलाएँ आने लग जायँगी।

दासी — जो आज्ञा।

सीता — नहीं ठहरो। उन्हें मेरे पास मत बुलाओ। केवल इतना कहला दो कि देवी अरुन्धती के आसन के पास ही माता कौशल्या का आसन रहेगा। मझली माँ से मैंने पुछवाया है। ज्ञात होने पर कहला दूँगी।

[जाने को होती है

दासी — जो आज्ञा।

सीता — एक बात और। देखो, द्वार से कोई याचक भी खाली लौटकर न जाय। जो कोई जो कुछ माँगे, उसे वही मिल जाय।

[प्रस्थान, दासी अन्य दासियों को बुलाकर ऊपर की सारी आज्ञाएँ समझाती और उन्हें एक एक कर भेजती है। उर्मिला का प्रवेश।]

उर्मिला — जीजी तो यहाँ भी नहीं। मैं कब की ढूँढ रही हूँ पर आज उनका पता ही नहीं लगता।

दासी — (हाथ जोड़कर) स्वामिनी, अभी अपने मन्दिर मे पधारी हैं। आज रात भर एक पल को भी विश्राम नहीं किया।

उर्मिला — विश्राम कैसे कर पातीं ? उन्हें विश्राम का समय कहा है ?

दासी — आप उनके पास जायँगी ?

उर्मिला — नहीं। अब वे गई हैं तो उन्हें थोड़ा चैन ले लेने दें।

दासी — स्वामिनी ने याचकों को मुँह-माँगा दान देने तथा देवी अरुन्धती के पास ही माता कौशल्या का आसन रखने का आदेश दिया है।

उर्मिला — ऐसा ही किया है।

[एक ओर से उर्मिला और दासी का आगे-पीछे प्रस्थान। दूसरी ओर से सीता का प्रवेश।]

सीता — सूर्य भगवान अपने वंश का यह महोत्सव देखने के लिए मेघ से सुसज्जित होकर आ रहे हैं! मादकों की

ऐसी शोभा तो मैं आज पहली बार देख रही हूं। उदयाचल के शिखर पर आज किसी ने वन्दनवारें बांध दी हैं।

[मांडवी का प्रवेश

मांडवी — जीजी, आज आपको कोई काम नहीं करना है।

सीता (हँसकर) क्यों? क्या माता कौशल्या का आदेश है?

मांडवी — नहीं देवी अरुन्धती ने कहलाया है कि आप बहुत व्यस्त हो रही हैं। थक जायगी।

सीता — और तुम मान लेती हो। तुम बड़ी भोली हो मांडवी!

मांडवी — (मुस्कराकर) देवी अरुन्धती स्वयं गुरु हैं। इसलिए ऐसा ही समझती हूं। - पर जब उन्होंने कहा तो मैं क्या करती?

सीता (हँसती हुई) अच्छा, जाकर कह देना कि उनकी आज्ञा शिरोधार्य है।

मांडवी — जीजी!

सीता — कहो।

मांडवी — जीजी, आज —(रुक गई है।)

सीता — कहो, बहिन मांडवी, कहो।

मांडवी — आज का दिन कितना धन्य है। कितन सुहावना है, जीजी।

सीता — हाँ वहिन। सब मुझसे कहते हैं आराम करो विश्राम करो। काम मत करो। परिश्रम मत करो। थक जाओग पर मुझ मे आज थकावट का नाम नहीं। शरीर में जीव और आनंद का सागर उमड़ पड़ा है। जी होता है, सारे का अपने हाथों से कर डालूँ। किसी को कुछ भी न करने दूँ।

माडवी — हाँ जीजी, ऐसा ही है। धरती और आकाश आज दोनों हर्ष और उत्साह से छा रहे हैं। तो भी मेरा मन न जाने क्यों शकित हो-हो उठता है। कभी तो ऐसा नहीं होता था।

सीता — कुछ नहीं वहिन। देवर ननसाल से नहीं आ पाये हैं। इसीसे तेरा जी उचाट हो रहा होगा।

माडवी — सो वात नहीं, जीजी। आज यों ही कुछ जी व्याकुल सा होता है।

सीता — भगवान् सब मगल करेंगे।

मांडवी — (चुप रहती है।)

सीता — वहिन हृदय कॉप रहा है। ज्यों-ज्यों अभिषेक का समय समीप आ रहा है। मुझे भय-सा लग रहा है। अनेक कामों मे उलझकर उसे वहलाना चाहती हू पर आखों के सामने से यह हृदय ओझल ही नहीं होता। यही

लगता है कि आर्यपुत्र सिंहासन पर बैठे हैं। छत्र उनके मस्तक पर रक्खा है। गुरु वशिष्ठ के किये हुए तिलक से उनका माथा शोभित है। चंदन से शरीर चर्चित है। मैं उनकी बाईं ओर बैठी हूं। मेरे माथे पर भी राजचिन्ह है। तुम, उर्मिला और श्रुतकीर्ति मेरे पास हो। देवर लक्ष्मण अपने भैया के पीछे खड़े हैं।—कितने आनन्द की बात है? तो भी हृदय अस्थिर सा हो रहा है।

मांडवी — जीजी भगवान् सब मंगल करेंगे।

सीता — अवश्य करेंगे।—यह तो अपने मन का स्वभाव है।

मांडवी — अभ्यागतों के आने का समय हो गया है। मैं जाऊं। स्वागत का काम तो मुझे ही करना है।

सीता — हां जाओ, बहिन, जाओ।— देखो किसी के सत्कार में किसी तरह की कमी न रहे।

मांडवी — कमी नहीं रहने पायेगी, जीजी।

[मांडवी का प्रस्थान, एक दासी का आगमन और प्रवेश]

दासी — स्वामी आ रहे हैं।

सीता — (जल्दी से दासी के पास जाकर) आ रहे हैं? तो जाकर जल्दी से पूजा की सामग्री तैयार कराओ।—सुनो, और कौन-कौन साथ है?

दासी — (हाथ जोड़ कर) स्वामी अकेले ही हैं।

सीता — अकेले ही हैं? देवर लक्ष्मण साथ नहीं हैं? गुरु वशिष्ठ कहां रह गये? आर्य सुमन्त्र भी नहीं हैं?

शायद, सब को उधर ही छोड़ कर आर्यपुत्र सीधे मेरे पास आते होंगे। कहेंगे जल्दी तैयार हो जाओ। तुम्हें सजने में देर लगती है।— शायद मिथिला से पिताजी आनेवाले हैं, उनके विषय में कुछ कहें ?

[राम का प्रवेश

दासी — स्वामी आ गये। (कहकर जल्दी जल्दी जाती है।)

सीता — (राम को देखकर) अरे यह क्या, अभी तो आर्यपुत्र को मैं बिलकुल सादे वेश में देख रही हूँ। इस दिन के लिये बनाई गई आपकी पोशाक तो मैंने पहले ही भिजवा दी थी। आर्यपुत्र ने उसे अब तक नहीं पहना ?

राम — प्यारी।

सीता — आर्यपुत्र के नवीन वेश को देखने के लिये मैं उत्कंठित हो रही थी। मैं देखती हूँ, गुरु वशिष्ट के मुहूर्त के लिये आर्यपुत्र ठहर रहे होंगे।—उनका मुहूर्त ऐसे समय बहुत देर से निकलता है।

राम — प्यारी, यह बात नहीं है।

सीता — तो क्या बात है, स्वामी ? जल्दी कहिए, मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है।

राम — धीरज धरो प्यारी। अभी कहता हूँ।

सीता — गुरु वशिष्ट कार्य आरम्भ कराके पीछे अनावश्यक देर किया करते हैं।

राम — नहीं, प्रिये ! गुरु वशिष्ठ ने पहले ही मुहूर्त शोध दिया था ?

सीता — तो फिर क्या बात है ? क्या देवर अस्वस्थ हैं ? क्या माता कौशल्या ने आर्यपुत्र को बुला लिया था ?

राम — कोई बात नहीं है, प्यारी ! सिर्फ इतनी सी बात है कि अभिषेक नहीं होगा ?

सीता — (आहत-सी होकर) अभिषेक नहीं होगा ? क्यों ? किसलिए ?

राम — दुखी न हो सीते । पिताजी के आदेश पर क्या दुखी होना चाहिए ?

सीता — पिताजी का आदेश है कि अभिषेक नहीं होगा ?

राम — हां, प्यारी ?

सीता — तो अभिषेक होने किसके आदेश से जा रहा था ? क्या वह पिताजी का आदेश न था ?

राम — सीता, प्रिये ? पिताजी के आदेश में उचित-अनुचित का विचार पुत्र और पुत्रवधू को नहीं करना चाहिए ।

सीता — अपराध क्षमा हो । परन्तु कोई कारण तो होगा?

राम — जरूर । पिताजी ने कैकेयी मां को कभी दो वरदान देने का वचन दिया था । उन्होंने आज वे वरदान मांग लिये ।

सीता — कैकेयी मां ने मांगा कि अभिषेक न हो ?

राम — नहीं, मझली मां ने कहा कि अभिषेक भैया भरत का हो।

सीता—(स्तब्ध-सी होकर) बस।

राम—बस क्यों, उन्होंने यह भी मांगा कि मैं चौदह वर्ष तक वन मे जाकर रहूँ।

सीता—एँ। (मूर्च्छित होना चाहती थी)

राम—(हाथों से सीता को संभालते हैं) प्यारी, धीरज धरो। क्या यह समय दुखी होने का है?

सीता— (अपने को सभाल कर) आर्यपुत्र। हाय यह क्या का क्या हो गया? मझली मां ने इस हरी-हरी दूब में चरने की स्वतन्त्रता देकर हमारा घात क्यों किया? पहले ही से वरदान क्यों न माग लिये?

राम—प्यारी जानकी, मैं नहीं जानता था कि तुम्हें राज इतना प्यारा है। यदि जानता तो हाथ जोड़ कर उसे मझली मा से तुम्हारे लिये माग लाता।—मुझे तो ख्याल भी न था कि मैं तुम्हें इतनी व्याकुल देखूंगा।

सीता—आर्यपुत्र। सीता को राज की कामना नहीं। वनवास का भय नहीं। परन्तु अभिषेक के अन्तिम क्षण मे मां को यह क्या सूझा? इस तमाम आयोजन का क्या होगा? प्रजा हम सब लोगों को क्या कहेगी? लज्जा से मेरा सिर पृथ्वी मे गड़ा जा रहा है।

राम—प्यारी ! इसमें किसी का दोष नहीं। भावी बलवान होती है। मझली माँ तो एक निमित्त बन गई हैं।

सीता—आर्यपुत्र ठीक कहते हो, लेकिन मन में तो विचार आये बिना नहीं रहते।

राम—प्रिये, सावधान हो, और इन विचारों को छोड़ो। —अब यह बताओ मेरे वनगमन के समय तुम यहां किस प्रकार रहोगी ? मेरे जाने से पिताजी को दुख होगा। माता कौशल्या व्याकुल होगी। उस समय तुम्हीं उनका सहारा होगी।

सीता—आर्यपुत्र के मुंह से मैं क्या सुन रही हूँ ? दुनियां आपको धर्म-धुरीण कहती है। स्त्री का धर्म क्या है सो आप मुझसे अधिक जानते हैं।

राम—सीता, प्रिये। मैं अपने और तुम्हारे हित की बात करता हूँ।

सीता—स्वामी, परन्तु स्त्री का हित क्या उसके पति के हित में नहीं है ? क्या स्त्री पति की अर्द्धांगिनी नहीं है ? क्या वह अपने भर्ता के ही आसरे नहीं [illegible] है ?

राम—परन्तु प्रिये। स्त्री का [illegible] भी धर्म है कि वह अपने स्वामी का प्रिय साधन करे। [illegible] के चरणों की सेवा करे। उनके आशीर्वाद प्राप्त करे। बड़ों के आशीर्वाद बड़ी से बड़ी विपत्तियों को [illegible] कर देते हैं।

सीता—नाथ। मैं [illegible]

आपके ऊपर हवा करूंगी। झरने का शीतल जल लाकर आपके हाथ-पैर धोऊँगी। सध्या समय कद-मूल फल परोसकर आपको खिलाऊँगी। रात को जब पत्तों की शैया पर आप श्रान्त-क्लान्त पड़ रहेंगे तो मै धीरे धीरे आपके पैर दाबूंगी।

राम — तो तुमने यही निश्चय कर लिया है ?

सीता — हाँ इसके सिवा मैं और क्या कर सकती हूँ। वन के जिन कष्टों का आपने वर्णन किया है आपके साथ रहने और आपके चरणों का दर्शन करने से वे मेरे लिए फूलों की तरह सुखदायक हो जायगे। वहा के पशु-पक्षियों से डरने की मुझे आवश्यकता नहीं है। वे सब मेरे सहायक होंगे। मैं उनके स्नेह की छाया मे जहा चाहूँगी निर्भय विचरूँगी।—इतने पर भी आप मुझे यहा रखना चाहे तो मेरा शरीर ही रहेगा, प्राण नहीं रहेंगे। इसे सच जानिये।

राम — यह बात है तो तुम मेरे साथ ही चलो। उठो, देर न करो। माता कौशल्या से चलकर विदा लेनी है।

सीता — सासुजी तो इधर ही आ रही है।

[कौशल्या का प्रवेश, सीता माथे का अंचल ठीक करके प्रणाम करती है]

कौशल्या — सौभाग्यवती होओ। (राम से) वत्स, रामचद्र यह मै क्या सुन रही हूँ ?

राम — मां यह सच है ।

कौशल्या — तब महाराज की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है ।

राम — ऐसा न कहो माता ।

कौशल्या — तो क्या कहूँ ? क्या यह कहूँ कि अभिषेक न हो ? क्या यह कहूँ कि तुम अयोध्या छोड़ कर वनवासी हो जाओ ?

राम — यही कहो मां—यही कहो ।

कौशल्या — नहीं, यह अन्याय मैं न होने दूंगी । मैं राजमाता हूं, राम । तुम चलो. सभा भवन में चलो । वशिष्ठ और सुमन्त इन्कार करेंगे तो मै अपने हाथों से तुम्हारा अभिषेक करूँगी ।—क्या कैकेयी के यह देने से अभिषेक रुक जायेगा ?

राम—मा, शांत होओ ।

कौशल्या—नहीं, राम ! इस समय शान्ति की बात मत करो ।

राम—मां, क्या तुम यह कहती हो कि मैं पिता की आज्ञा को तोड़ डालूं ?

कौशल्या—राम, बेटा मैं तुम्हारी मा हूं । पिता से भी बड़ी । मेरी आज्ञा है कि तुम अभिषेक से विमुख न हो । अभिषेक से विमुख होना कायरता है ।

राम—कभी नहीं मां, कभी नहीं ! माता-पिता की आज्ञा पालन करना कायरता नहीं हो सकती । फिर तुम्हारे लिये तो

मेरा और भैया भरत दोनों का अभिषेक समान है। कहो, क्या भरत तुम्हे मेरी ही तरह प्रिय नहीं हैं ?

कौशल्या—बेटा राम। धर्म की वेश-भूषा पहनकर आये हुए अधर्म से इतना क्यों डरते हो ?

राम—मा, यह तो प्रसन्न होने की बात है कि तुम्हारा राम इतना धर्मभीरु है।

कौशल्या—वत्स, यदि यही बात है तो मैं भी तुम्हारे साथ वन को चलूँगी। हिम, वर्षा और घाम मे, अपने बच्चे की छाया बनकर रहूँगी। — इस अयोध्या मे, स्वार्थ की इस नगरी मे सास लेना भी मुझे सह्य नहीं।

राम—मा, मोह मत करो। पिताजी की दशा देखो। मैं अभी देखकर आया हूँ। आह। कैसी दीन दशा हो रही है। मेरी अनुपस्थिति मे तुम्हारे सिवा और कौन उनके शरीर को रख सकेगा ?

कौशल्या—राम, वत्स। तुम सब को देखते हो पर अपनी मा को नहीं देखते। हाय मै तुम्हारे बिना क्या करूगी ? कैसे जियूगी ? तुम अकेले वन मे घूमोगे और मै राजमहलों मे सुख भोगूगी आह। (आसू पोंछती है)

राम—अकेला क्यों रहूँगा मा ? यह मैथिली भी तो मेरे साथ है।

कौशल्या—(चौंककर) क्या कहा बेटा, सुकुमारी सीता भी तुम्हारे साथ वन जायेगी ? राजा जनक की लाड़ली जानकी

भी धनवासिनी होगी ? बेटा मेरा हृदय वज्र नहीं है जो ऐसी बात सुन सके।—जो सिरीष के फूल की तरह कोमल है। भूल कर भी जिसने कभी धरती पर पांव नहीं दिया है। जो सदा गोद और पालनों में ही पली है। जिसे मैंने आंख की पुतली बना कर रक्खा है। जिससे कभी दीपक की बत्ती हटाने को नहीं कहा है। वह— वह मेरी चन्द्रकिरन जंगलों में मारी-मारी फिरेगी ! मैं नहीं सुन सकती राम, मैं नहीं सुन सकती।

[मूर्च्छित होती हैं। राम हाथ का सहारा देते हैं। सीता अञ्चल से हवा करती हैं]

(परदा)

रचनाकाल— सितम्बर १९३

पंचवटी

नट

राम — अयोध्या के महाराज

वासन्ती — एक वनवासिनी, सीता की सखी

गोदावरी तट पर जनस्थान

दिन का पहला पहर

[आकाश से विमान उतरता है । विमान पर महाराज रामचन्द्र बैठे दिखाई देते हैं । धीरे धीरे विमान पृथ्वी पर आ जाता है। राम विमान से उतरते और इधर उधर देखते हैं ।]

राम—यही तो वह स्थान है । मेरे जीवन का सबसे बड़ा पुण्य तीर्थ । यज्ञ की दीक्षा लेने से पूर्व तीर्थ-स्नान का गुरु वशिष्ठ का आदेश है । मैं समस्त तीर्थों का स्नान कर आया तो भी अन्तर की ज्वाला तो वैसी ही जग रही है । रोम रोम फुंका जा रहा है । अपने इस पावन तीर्थ मे स्नान किये बिना उससे क्या कभी निस्तार हो सकता है ? (इधर उधर टहलते हैं) आह, यहां का वातावरण कैसा शीतल है । लगता है, जैसे कोई कपूर और चदन छिडक रहा हो ।

(वासंती का प्रवेश)

वासंती—महानुभाव, आप कौन हैं ?

राम—(सुन नहीं पाते हैं) यहां क्षण भर में ही प्राण शान्ति सुख का अनुभव करने लगे हैं ।

वासंती—(और पास आकर) महानुभाव, आप कौन हैं ?

राम—(देखकर) वासंती ।

वासंती—(चकित होकर) आप तो मुझे जानते हैं !

राम—वासंती !

वासंती—आपकी आवाज तो पहचानी हुई-सी है। आप कौन हैं, देव ?

राम—तुम्हीं बताओ मैं कौन हूँ, वासंती ?

वासंती—(सोचती है) महानुभाव, याद नहीं पड़ता कहीं आपको देखा अवश्य है।

राम—हाय, वासंती ! आज तुम मुझे पहचान भी नहीं पा रही हो। मैं इतना बदल गया हूँ !

वासंती—मैं सोच रही हूं। मुझे क्षमा करो ! महानुभाव !

राम—नहीं वासंती, तुम मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारा अपराध किया है। मैंने तुम्हारी माधवी सखी को निराश किया है। संसार जिसका नाम लेकर पवित्र होता है मैंने उस देवी को कलंक लगाया है। वासंती, तुम मुझे नहीं पहचान रही हो सो ठीक कर रही हो। मैं पापी राम इसी योग्य हूं।

वासंती—(केवल अन्तिम वाक्य पर ध्यान देकर [illegible] आश्चर्य चकित होता है।) रामचन्द्र—आप रामचन्द्र हैं ? मेरी प्यारी सखी सीता के स्वामी रामचन्द्र हैं ?

राम—वासंती, मुझ पापी को उस देवी के साथ याद मत करो।

वासंती (सुनती नहीं है) अरे, कहां गया आपका वह दिव्य रूप ! आप तो बिलकुल पहचाने नहीं जाते। न वह कांति,

न वह शोभा, न वह बल—आह ! आपका शरीर तो एकदम काटा हो गया है ।

राम—यह कुछ नहीं है वासती ? यह मेरे पाप का एकाश भी प्रायश्चित नहीं है।

वासती—कैसा पाप ? आपने कौनसा पाप किया ?

राम—तुमने ध्यान नहीं दिया। तुमने सुना नहीं वासती । मैंने तुम्हारी सीता को त्याग दिया है।

वासती-(स्तब्ध होकर) आप क्या कह रहे हैं ? सीता, सीता को त्याग दिया है ? श्री और शोभा की मूर्ति को त्याग दिया है ?

राम—हां ।

वासती—(स्तब्ध होकर रहती है। उसकी आवाज नहीं निकलती है।)

राम—चुप क्यों हो गई, वासन्ती ? मुझे धिक्कारो न।

वासन्ती—आप कहते हैं, आपने सीता को त्याग दिया है ?

राम—हां मैं यही कहता हूं ।

वासन्ती—किस अपराध पर ?

राम—अयोध्या के महाराज राम एक असती को घर कैसे रख सकते थे ? बोलो ।

वासन्ती—क्या कहा ? सीता असती ? संसार में पवित्रता का आदर्श स्थापित करनेवाली सीता असती !- नहीं, कभी नहीं । आपको भ्रम हुआ होगा महाराज ?

राम— देवि, तुम ठीक कहती हो।

वासती— क्या ठीक कहती हूँ ?

राम— सीता कभी असती नहीं हो सकती। वह यज्ञ-धूम की तरह पवित्र है।

वासती— परन्तु आप तो अभी कुछ और कह रहे थे।

राम— वासती, देवी। तुम नहीं जानती। तुम वनवासिनी हो। तुम भोली हो। — अगर तुम जान पातीं कि राम के दो रूप हैं।

वासती— क्या कह रहे हैं, महाराज ?

राम— देवी, मैं कह रहा हूँ मेरे दो रूप हैं। एक रूप में मैं महाराज हूँ। दूसरे रूप में मैं रामचन्द्र हूँ। पहले रूप में मैंने सीता को असती माना है। कलंकिनी माना है। उसे त्याग दिया है। घनघोर वन में, हिंस्र पशुओं का भोजन बनने को उसे छोड़ दिया है। दूसरे रूप में मैं उसकी आराधना करता हूँ। मैं उसे निरपराधिनी मानता हूँ। उसके लिए रात दिन रोता हूँ। स्वप्न में उससे मिलने के लिए छटपटाता हूँ। उसकी एक झलक पाने के लिए अपना सर्वस्व छोड़ सकता हूँ। उसकी याद ने मेरे शरीर का खून सुखा दिया है।

वासती— मैं कुछ नहीं समझती, महाराज।

राम— राजा के पास हृदय नहीं होता, [illegible] होता है। उसके आँखें नहीं होतीं, कान होते हैं।

वासंती— मैं नहीं समझती महाराज ।

राम— महाराज के कर्तव्य का मैंने पालन किया है। प्रजा मे अपवाद फैल रहा था कि सीता पर-पुरुष के यहाँ रहकर आई है । सूर्यवंशी महाराज राम ने उसे ग्रहण कर लिया है । — कितना बड़ा अपवाद था । कैसा भयानक कलंक था ? कोई राजवंश उसे सह सकता था ?

वासती— और आपने उस पर विश्वास कर लिया ?

राम— मैंने नहीं देवी, महाराज राम ने विश्वास कर लिया। महाराज प्रजा की बात पर अविश्वास कैसे कर सकते थे ?

वासती— महाराज कोई दूसरे हैं क्या ? क्या आप अयोध्या के महाराज नहीं हैं ?

राम— मैंने अभी कहा था न वासती कि जब से मैं महाराज बन गया हूँ। तब से मेरे दो रूप हो गये हैं । हर एक बात का निर्णय मुझे महाराज की पद-मर्यादा के ध्यान से करना पड़ता है । राम की राय एक व्यक्ति की राय है । उसे यहाँ कोई नहीं पूछता, देवि ।

वासती— तो आप कैसे महाराज हैं ? आप जानते हुए भी सचाई का समर्थन नहीं कर सकते ?

राम— हाय, मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ, देवि कि लोकेच्छा के बिना राजा की अपनी कोई सम्मति नहीं होती ।

वासंती— तब तो आपकी स्थिति बड़ी दयनीय है।

राम— वासंती, तुम मुझ पर क्रोध नहीं करतीं। मैंने तुम्हारी निरपराधिनी सखी को त्याग दिया है यह जानकर भी तुम क्रोध नहीं करतीं ?

वासंती— पहले क्षोभ का एक भाव उठा था जरूर परन्तु वह अब बिलकुल ही नहीं रहा।

राम— तुम्हें मेरे ऊपर जरा भी क्रोध नहीं ? तुमने मेरे अपराध को क्षमा कर दिया ?— बोलो, बोलो।

वासंती— मेरे मन में महाराज की निरीहता पर दया उमड़ती है। आपके चेहरे से व्यक्त होता है कि आप कितनी भीषण मनोवेदना लिये घूमते हैं ?

राम— वासंती, देवि !

वासंती— महाराज प्रायश्चित की अंतर्ज्वाला ने तिल तिल करके आपको सुखा दिया है।

राम— इस पाप की तुलना के सामने यह कुछ भी नहीं है, वासंती।

वासंती— महाराज, यह पाप नहीं है।

राम— क्या कहा वासंती, यह पाप नहीं है ? अरे ! यह पाप नहीं है। सीता को कलंकिनी बताना पाप नहीं है ?

वासंती— जब आप जानते हैं सीता पवित्र है। जब आप अपवाद पर विश्वास नहीं करते। जब आप अपनी भूल के लिए दुखी हैं। जब आपने केवल राजकीय कर्तव्य का पालन किया है। जब आप लाचार थे। जब आपने सीता के साथ साथ अपने हृदय की शांति को भी त्याग दिया है। जब आपने सीता को त्यागकर न्याय-दण्ड का अपने ऊपर ही प्रहार किया है तब उसे पाप कहना कठिन है।

राम— तो इसे क्या कहोगी, वासती ? इसे राम का पुण्य कहोगी ? इसे राजधर्म कहोगी ?— कहो, जो चाहो कहो। आज राम अयोध्या के महाराज हैं ? उनके मुँह पर उनके कृत्य को पाप कहने का साहस कौन करेगा ? राजकोप को भला कौन निमंत्रण देगा ? एक अबला के लिए, जिसका अस्तित्व कौन जाने दुनियां मे शेष है या नहीं, राजा की निंदा करना कौन चाहेगा ?

वासती— यह मत कहो महाराज, वनवासिनी वासंती का हृदय बाहर से शतधा हो गया दिखाई नहीं देता इससे यह न समझो कि वह सखी के लिए दुखी नहीं है। मैथिली के दुर्भाग्य के लिए मेरा रोम-रोम रो रहा है। उस देवी को घोर विपत्ति मे डालनेवाले के लिए मेरे अन्तर का ज्वालामुखी अभिशापों की वर्षा कर उसे जला डालना चाहता है—

राम— वह नारकी इसी योग्य है, वासती।

वासंती— परन्तु —

राम— परन्तु-वरन्तु नहीं वासंती। अभिशाप दो, उसे कोसो। परमात्मा से मनाओ कि उसके जन्म-जन्मान्तर की शान्ति उससे छीन ले।

वासंती— क्यों नहीं महाराज?— मैं जानती हूँ सखी जानकी के साथ कितना अनर्थ हुआ है। उन्हें अकल्पनीय दुखों में पड़ना पड़ा, परन्तु जब देखती हूँ कि महाराज ने उन्हें दंड देकर अपने को ही सबसे अधिक दंड दिया है, तब जी में आपके प्रति सहानुभूति ही होती है। क्रोध गल जाता है, करुणा उमड़ती है।— मुझे विश्वास है, मेरी सखी भी यदि आपको इस दशा में देख पाये तो उसे रुलाई ही आयेगी।

राम— क्या कहा! सीता मुझे क्षमा कर देगी?— सचमुच वासन्ती वह देवी मुझे अवश्य क्षमा कर देगी। उसके साथ मैं इससे अधिक अन्याय करूं तो भी वह क्रोध न करेगी।

वासन्ती— महाराज मेरी सखी के शील-स्वभाव से परिचित हैं।

राम— ऐसा मत कहो वासन्ती। यदि स्वार्थी राम शील-स्वभाव की कद्र जानता, यदि प्रेम का उसके निकट कुछ भी मूल्य होता, तो वह सिंहासन त्याग देता परन्तु सीता को कलंकिनी कहकर निर्वासित न करता। राम को यश जितना प्यारा है प्रेम उतना नहीं! उसकी दृष्टि में मर्यादा सीता से अधिक सुन्दरी है।

राम— अब जब प्रिया का सिर्फ नाम शेष रह गया है, तब भी यहां उसके आसपास ही कहीं होने की प्रतीति होती है। सब जानते हुए भी जी यही कहता है कि मैं जाकर कहीं कुंजों की छाया मे से उसे खोज लाऊँ।

वासंती— (चलते चलते एक लता-गृह दिखाकर) देखिये महाराज, यह वही लतागृह है जहां बहुत देर तक बैठकर आपने मेरी सखी की प्रतीक्षा की थी।

राम— और वह गोदावरी से जल भरने गई थी।

वासती— हां - हां।

राम— परन्तु उड़ते हुए हंसों को देखने मे ऐसी रम गई थी कि मैं बैठा राह देख रहा हूँ यह उसे एक दम बिसर गया था। जब लौटी तो अपराधिनी की भाति हाथ बांध कर मेरे सामने खड़ी हो गई थी।

वासती— यह देख कर आप हँस दिये थे।— महाराज, तब आपका दंडविधान और ही तरह का था।

राम— उस प्रसग को फिर न छेड़ो वासती।

वासती— (थोड़ा और आगे बढ़कर) लो महाराज, देखो सामने पचवटी है।

राम— वासती देवि। तुम्हें याद है प्रिया जानकी को यह स्थान कितना प्रिय था? वह दिन कितना भाग्यवान था जब प्यारी वदेही के साथ यहीं खड़े होकर पहले पहल मैंने भगवती गोदावरी के दर्शन किये थे। आज मैं अकेला हूँ!

(आँखों में आँसू भर लाते हैं।)

वासंती— एक दिन फिर आप मेरी सखी के साथ यहाँ आयेंगे, महाराज !

राम— वासंती, क्या सचमुच वह दिन इसी जीवन में फिर आयेगा ?

वासंती— आना तो चाहिए, महाराज।

राम— एक क्षण के लिए वासंती अगर वह सुख लौट आये तो मुझे फिर और कुछ नहीं चाहिए। (गहरी साँस लेते हैं।)

वासंती— (पहाड़ी तट पर चढ़कर) महाराज, भगवती गोदावरी की जलराशि देखिये।

राम— अभागा राम भगवती गोदावरी को प्रणाम करता है।

(हाथ जोड़ कर प्रणाम करते हैं।)

वासंती— चलिये महाराज, सीता तीर्थ के दर्शन करें।

राम— (चलते-चलते) वासंती, इधर देखो इन्हीं वृक्षों की छाया में वहीं अपनी पर्णकुटी थी !

वासंती— पर्णकुटी के द्वार के सामनेवाला रसाल अब तक खड़ा है। इसी की छाया में मेरी सखी बैठ कर अपने मोरों का नाच देखती थी।

राम— इस स्फटिक शिला पर प्रिया के साथ कितनी बार वन की शोभा देखी थी। आज अकेले ही थोड़ी देर बैठ लूँ ?

[बैठते हैं।

वासती— महाराज, मेरी सखी ने जिन मृग छौनों को लाड़-प्यार से पाला था, वे अब तक उसे भूले नहीं हैं। वे जब तब यहाँ आ-आकर शिला को सूँघते और कुंजों में उसे खोजते फिरते हैं।

राम— वासती, वे पशु-पक्षी धन्य हैं जो अपना प्रेम अब तक बनाये हैं। मुझसे तो यह भी न हुआ। उसके विश्वास का मैंने कैसा सुन्दर बदला दिया। (दुखी होते हैं।)

वासती— महाराज, इस तरह दुखी होने से आप कैसे देख सकेंगे ? यहाँ तो कण-कण में आपको प्राण सखी मैथिली की स्मृतियाँ मिल जायँगी।

राम— चलो, आगे चलें। (उठकर चलते हैं।)

[दृश्य बदलता जा रहा है।

वासती— महाराज, आपको याद नहीं होगा एक बार इसी सघन कुंज में आप कहीं छिप गये थे। मेरी सखी आपको खोजते खोजते थक गई थी। कुमार लक्ष्मण पहले ही से कहीं गये थे।

राम— याद है, याद है वासंती।— मुझे न पाकर प्रिया

डर कर मूर्छित हो गई थी। होश आने पर मुझे देखकर फिर कितना रोई थी। — मैं बड़ा निठुर हूँ। मैंने सदा इसके आंसुओं के साथ खिलवाड़ किया है!

वासन्ती— इधर आइये महाराज, आपको एक चीज दिखाऊँ। यह आपने पहले कभी न देखी होगी, परन्तु आपको एक शर्त करनी होगी।

राम— वह क्या ?

वासन्ती— कि आप बिना रोये इसे देखेंगे।

राम— वासन्ती, तुम समझती हो क्या मैं यों ही रोता हूँ। सच जानो सखी, मैं अपने हृदय को भरसक रोकता हूँ। जब विवश हो जाता हूँ तभी—

वासन्ती— (मेंहदी के वृक्ष के पास जाकर) देखिये महाराज!

(राम आगे बढ़कर देखते हैं। वृक्ष के तने पर बड़े ही सुन्दर अक्षरों में राम नाम अंकित है। जो उभर आने से खूब स्पष्ट हो गया है।)

राम— इन अक्षरों ने प्रिया का प्रेम बता रखा है। — हाय! इसे सुख ने और मेरे नाम ने [illegible] था ?

वासन्ती— यह इधर चित्रकारी भी है देखिये।

राम— फिर और क्या है? (पास जाकर देखते हैं।) अरे, यह तो धनुर्भंग का चित्र है। [illegible] से मेरे गले में जयमाला डाल रही है। वासन्ती, [illegible] मुझे [illegible] करना। यह दृश्य तो मुझ से देखा नहीं जाता। (रोते हैं।)

वासन्ती— (आखों के आंसू पोंछकर) ये चित्र खींचकर मेरी सखी फिर अधिक दिन यहाँ न रही थी। इस तरह तो ये याद में उभरे हैं।

राम— प्रिया जानकी के हाथ के ये चित्र प्रकृति ने कितनी सावधानी से सुरक्षित रक्खे हैं ? मैंने उसी जानकी को अपने हाथों से दूर फेंक दिया।

वासन्ती— हाथों से दूर फेंक देने से क्या होता है। हृदय से तो नहीं फेंक सके हैं।

राम— वह मेरे वश की बात नहीं है वासन्ती। (रोते हैं।)

वासन्ती— मैंने यहाँ लाकर व्यर्थ महाराज का जी दुखाया। चलिये, अब आप थक गये होंगे। थोडा विश्राम कर लीजिये।

राम— वासन्ती, राम को इस जन्म में विश्राम कहाँ ? राम तो राजधर्म मे बधा है। यहा घूमते हुए भी क्षण- क्षण पर उसे अश्वमेध यज्ञ का ध्यान आ रहा है। इस दुष्ट राजधर्म ने ही प्राणप्रिया को मुझसे विलग कराया है। वही अब उसकी स्मृति के साथ अकेले मे दो घड़ी हमने और रोने भी नहीं देता।

(व्याकुल होते हैं।)

वासन्ती— तो महाराज बिना विश्राम किये ही चले जायेंगे ?

राम— हाँ, मैं चला ही जाऊँगा। मैं अब अयोध्या का महाराज हूं न ? मेरा समय बड़ा कीमती है। मैं उसे अपने रोने-धोने में कैसे लगा सकता हूं ? परन्तु वासन्ती, तुम जिस तरह सीता को याद किये हुए हो उसी तरह क्या इस अधम राम को भी याद रक्खोगी ?

वासन्ती— राम और सीता को मेरे जीवन से क्या कोई अलग कर सकता है ? मेरे निकट तो वे सदा साथ रहेंगे।

राम— वासन्ती, तुम बडी पुण्यात्मा हो। तुम्हारा जीवन धन्य है। जब राम सीता के लिये तरसते हैं। जब उनमें न जाने कितने जन्मों का अन्तर पड़ गया है तब तुम्हारे समीप वे दोनों एक हैं— साथ हैं।

वासन्ती— महाराज वे फिर एक होंगे।— मेरा मन कहता है वे फिर मिलेंगे।

राम— यहां से जाने से पहले अपनी इस दृढ़ आशा को मेरे मन में भी भर दो वासन्ती ? यह पापी जीवन घुन जल चुका है। अब इसे कुछ देर सुख से जीने लायक बना दो ?— बना दो, देवि ? (व्याकुलता का नाट्य करते हैं।)

वासन्ती— भगवान् चाहेंगे तो यही होगा।— धीरज धरिये, महाराज।

[वासन्ती हाथ के सहारे से रामचन्द्र को विमान पर चढ़ा देती है ।]

राम रोते हैं । विमान धीरे-धीरे ऊपर उठता है । वासन्ती पृथ्वी पर पछाड़ खाकर गिरती है ।]

परदा

रचनाकाल— नवम्बर १९४९

बुद्धवाणी

नट

बुद्धदेव	सर्वस्व त्यागी महात्मा, बौद्ध धर्म के संस्थापक
आनन्द	बुद्धदेव का प्रधान शिष्य
तपसी	कोशल की राजमहिषी

अचिरावती का तट

सायंकाल

(गंध कुटी में भगवान बुद्ध विराजमान। स्वच्छ आकाश में दो चार तारे टिमटिमा रहे। द्वितीया की चन्द्ररेखा क्षितिज पर मैली पड़ी जा रही। सन्ध्या समय खिलनेवाले फूलों की मधुर गंध वायु के झोंकों के साथ सब ओर फैल रही। वातावरण की पवित्रता के साथ सान्ध्यकालीन नीरवता मिश्रित होकर एक अपूर्व शान्त सौंदर्य की रचना कर रही। गंधकुटी के आसपास बौद्धश्रमण अपनी दिनचर्या में संलग्न परन्तु गोधूलिवेला के शान्त वातावरण में किसी प्रकार का क्षोभ पैदा न होने पाये इसके लिये संभवतः सभी सजग। उनकी प्रत्येक हलचल शास्ता (बुद्ध) की उपस्थिति की परिचायक। अचानक दक्षिण दिशा से किसी के हृदयद्रावक क्रंदन और विलाप का शब्द सुन पड़ता है। श्रमणों में हलचल मच जाती है। सब दबे पाँव इधर से उधर दौड़कर कानाफूँसी करते और शास्ता के आदेश से पूर्व अपना कर्तव्य स्थिर करते हैं। रुदन, विलाप और सिसकियाँ उत्तरोत्तर स्पष्ट हो रही और यह बता रही कि कोई दुखिया अबला अपने हृदय के दुख का भार हलका कर रही है। भगवान बुद्ध का ध्यान टूट जाता है और वे अपने चारों ओर देखते हैं।)

बुद्ध— आनंद !

आनद— (उपवन के सुदूर स्थान से) भगवन् ! आया।

बुद्ध— देखो, आनद। (उठकर खडे हो जाते हैं—करुणार्द्र)

आनद— भगवन्, कोशल की राजरानी !

बुद्ध— हा, राजमहिषी उपसी।

आनद— राजमहिषी को भगवान् के यहा होने का ज्ञान नहीं है।

बुद्ध— कैसे हो आनद। राजमहिषी के ऊपर इतना वडा दुख टूट पड़ा है। दुख की महातरङ्गों के बाहर की दुनिया का ज्ञान उन्हें कैसे हो ?

आनद— दुखिया ससार। भगवान की अमृतवाणी—स्यात, राजमहिषी आ रही है।

बुद्ध— वहीं चल रहा हूँ, आनन्द।

(बुद्धदेव गंधकुटी से बाहर निकलते हैं और बाईं ओर स्थित देवकुल राजकुल के श्मशान, की ओर बढ़ते हैं। आनद पीछे पीछे चलता है।

आनद— राजमहिषी के विलाप के आगे मैं स्थिर नहीं रह सका देव।

बुद्ध— करुणा का प्रवाह किसे नहीं वहा ले जाता, आनंद ?

आनंद— हम ससार-त्यागी श्रमणों को जब इस तरह का मानसिक उद्वेग सहन नहीं होता तो बेचारे गृहस्थ जनों की दशा का क्या कहना।

बुद्ध—इसी तप की वेदी पर आसीन होने से गृहस्थाश्रम की

नी महिमा है। सम्यक् संबुद्ध होकर भी गृहस्थाश्रम के प्रति मेरी श्रद्धा का अंत नहीं है।

आनंद— (चलते चलते गुरुदेव के चरणतल की धूलि उठाकर माथे से लगाते हुए) श्रमण-वेश के एक अकल्पित गर्व से आज मैं मुक्ति पा गया भगवन।

बुद्ध - आनंद, तुम बुद्ध के प्रिय शिष्य हो। बुद्ध-वाणी के संरक्षक का पद प्राप्त है तुम्हें। याद रक्खो, प्रव्रज्या लेते ही गर्व करने लायक, मोह करने लायक, भिक्षु के पास कुछ नहीं रहता। श्रमण वेश तो राग निवृत्ति का ही प्रतीक है। तुम मेरे जितने ही निकट हो राग रोष से उतने ही दूर हो।

आनंद— भगवन्, इन पवित्र चरणों के लिए मैं कुछ भी छोड़ सकता हूं, राग रोष तो त्याज्य ही है।

बुद्ध— आचार भिक्षु का कर्त्तव्य है पूंजी नहीं, यह जानकर आचरण करो। फिर अपने को महान और दूसरों को हीन समझने की भावना का तिरोभाव हो जायगा। गृहस्थ, गृहस्थ के आचार को पालकर उतना ही महान है जितना भिक्षु भिक्षु के आचार को पालकर। इसमें न उसके लिए गर्व की कोई बात है न तुम्हारे लिए।

आनंद— मन की अंधेरी गुफा में प्रकाश फैल गया है गुरुदेव। — राज नन्दिनी जननी—

(इसकी [illegible] में लिखी है।)

उपसी— मैं दुखियारी भगवन्।

बुद्ध— महिषी, ससार दुख का ही पर्याय है।

उपसी— मेरे विलाप से आपका ध्यान भग हुआ होगा। क्षमा चाहती हूँ। क्या करूं मां का हृदय है। इतनी सुन्दर, सुदर्शन, देवोपम, चांदनी से धोई हुई कली सी शुभ्र मेरी जीवती, आपने तो उसे देखा था देव। अपने अपूर्व रूप लावण्य से ही राजमहिषी का रोचना लगा गई मेरे माथे पर। मैं रोती हूं अपनी उसी जीवती के लिए। आठों पहर क्रंदन और विलाप मे डूबी रहती हूँ। महात्मन्, वताओ मैं क्या करूं ? कहां खोजूं उसे ?

बुद्ध— महिषी, धैर्य धरो।

उपसी— धैर्य—नहीं, भगवन् इस संसार में अपनी पुत्री के सिवा मुझे कुछ नहीं चाहिए। राजपाट धन धाम यहां तक कि मोक्ष की भी कामना नहीं मुझे।

बुद्ध— महिषी, संताप ने तुम्हारी विचारशक्ति को ढक लिया है।

उपसी— मैं बुद्ध की शरण हूँ। मुझे मेरी पुत्री चाहिए। क्या यह छोटी सी बात भी आपकी शक्ति से बाहर है, प्रभो।

बुद्ध— नहीं भद्रे। बुद्ध की शक्ति से बाहर कुछ भी नहीं है। आस्था रखो। धर्म पर आस्था — मुझ पर आस्था।

उपसी— मुझे बचाइये प्रभो। जीवती से रहित किसी पर

आस्था रखने का आदेश न दीजिए। यह न होगा। मैंने जिस स्वर्ग को बड़े यत्न से बनाया था जैसे भी हो उसकी एक झलक मुझे दिखाइये। सागर के पास आकर क्या मैं प्यासी रह जाऊँगी?

बुद्ध—ऐसा ही आग्रह है तुम्हारा?

उपसी—इसके सिवा और मैं क्या चाहूँ देव।

बुद्ध—आनन्द, राजमहिषी उपसी अपनी कन्या के लिए व्याकुल हो रही है—उसी कन्या के लिए जिसे तुम स्मशान मे जलाया जा चुका है।

आनन्द—भगवन्, महिषी का हृदय मोहाच्छन्न है।

उपसी—मां का हृदय मोह से रहित कैसे हो सकता है, महाश्रमण?

बुद्ध—मेरा आदेश है आनन्द कि स्मशान में जलाई गई कन्याओं को महिषी के सामने उपस्थित करो। वे अपनी कन्या को पहचान लें।

[महिषी और आनन्द बुद्ध के मुँह की ओर देखते हैं जिससे प्रकाश चारों ओर विकीर्ण हो रहा है।]

ममतामयी माता की चौरासी हजार कन्याएं इसी स्मशान में जलाई जा चुकी हैं—फूल सी कोमल और दूध सी पवित्र। ये रहीं वे। महिषी, देखो बोलो, तुम इनमें से किस कन्या के लिए विलाप कर रही हो? तुम माता हो ममतामयी और ये सब पुत्रियां। तुम इनमें से किस एक के लिए व्याकुल हो?

(रात्रि की गंभीर छाया में छोटी छोटी बालिकाओं की एक सेना सी आती दिखाई पड़ती है जिनमें उपसी की जीवती भी है और उस जैसी ही अन्य अनेक। उपसी देख नहीं सकती आंखें बन्द कर लेती है।)

उपसी— बस देव, मेरे हृदय में बिधा हुआ तीर निकल गया।

बुद्ध— इतनी जल्दी।

उपसी— हा देव, मेरा मोह दूर हो गया। मैं नहीं जानती मैं किसके लिए शोक करूं ? इन असंख्य जीवतियों में मैं किस एक की मां कहलाऊँ ?

बुद्ध— महिषी, मैं समझता हूँ तुम्हारा हृदय शांति का अनुभव करने की स्थिति मे है ?

उपसी— मेरा हृदय शांत है देव, वह आकुलता रहित है। विकार का लेश भी अब नहीं रहा।

बुद्ध—मेरे कहने से कोई बात मत मानो। चित्त को टटोलो।

उपसी— मेरा चित्त आज पूरी तरह निर्मल है देव। मैं समझ रही हूँ कि संसार दुःखपूर्ण है। शरीर के पीछे जरा और मृत्यु लगी हुई है। उनसे राजा-रंक किसी का निस्तार नहीं है। निर्मल रागहीन मन से उन्हें जीता जा सकता है। मैंने अपने अन्तर की तृष्णा पर विजय पा ली है।

बुद्ध— आनन्द राजमहिषी की बातें सुन रहे हो ?

आनन्द—(बुद्ध के चरणों में प्रणिपात करके) सुन रहा हूँ देव। यह बुद्ध-वाणी है।

उपसी—अचिरावती नदी के तट पर, इस शांत सन्ध्या में, आज मेरा नया जन्म हुआ है। मैं सर्वज्ञ बुद्ध; उनके धर्म और संघ की शरण जाने को प्रस्तुत हूँ।

बुद्ध—तथास्तु।

(बुद्ध महिषी के सिर की ओर हाथ बढ़ाते हैं। सब गंधकुटी की ओर धीरे धीरे बढ़ते हैं, आगे बुद्धदेव, उनके पीछे आनन्द, फिर उपसी। महिषी के पीछे उनकी शरीर रक्षिकाएँ और सहेलियाँ।)

भिक्षुणी-संघाराम

सायंकाल

(अल्पवयस्का दो भिक्षुणिया पास पास बैठी हैं। एक का नाम नदा और दूसरी का मुक्ता है। मुक्ता के यौवन और रूप दोनों में सौम्यता की ज्योति जग रही। नंदा में रूप का अपार ऐश्वर्य उद्भासित।)

मुक्ता— शास्ता के दो ही वाक्यों ने मेरे अन्तर की ज्वाला को शमित कर दिया। कानों में उनके शब्द निरन्तर गूंजते रहते हैं।

नदा— कौन से शब्द?

मुक्ता— उन्होंने कहा,— मुक्ता, तू मुक्त हो जा—राहु के ग्रहण से मुक्त हुई चन्द्रकला की तरह। तू अशेष प्राणियों के साथ मैत्री-भावना मे लीन हो जा।— भगवान् के इन शब्दों ने मेरे हृदय में आठों पहर उमड़नेवाले ज्वार को शान्त कर दिया। उसी क्षण से मेरा पथ अलोकित और जीवन सुखी हो गया है।

नदा— मैं क्या करूं? कहां पाऊँ तेरे जैसा हृदय, मैं अभागिन।

मुक्ता— जिसका रूप इतना अलौकिक हो उसका हृदय मरुस्थल नहीं हो सकता नदा!

नंदा— सच तो यह है कि मेरा जीवन संघाराम के योग्य

नहीं है। पिता के अनुरोध से विवश, महाप्रजावती देवी गोतमी के आश्वासन से आश्वस्त, मैं यहां आई। यहां की चर्चा, यहां की निष्ठा, मेरे अनुकूल नहीं।

मुक्ता— मैं भी ऐसा ही मानती थी।— ठीक इसी तरह।

नंदा—क्या करूं पिता ने ही जब मेरे लिये फांसी का फंदा तैयार कर दिया। तुम्हीं बताओ मुक्ता, क्या मेरा निस्तार नहीं था इस दुनियां में? पति का मरना क्या इतना बड़ा पाप है नारी के लिये कि वह घर से निकाल दी जाय?

मुक्ता— शान्त हो अभिरूपे।

नंदा— अभिरूपा कहां रही मैं? रूप तो मेरा उसी समय कौड़ी-मोल हो गया जब लग्न-मुहूर्त के दो घड़ी बाद ही मेरे माथे का सिंदूर पुंछ गया। लेकिन इसमें मेरा क्या दोष? पर पिता का यही निर्णय था कि ऐसी अभागी लड़की के लिये इस संघाराम के सिवा और कोई स्थान नहीं हो सकता। बताओ मैं शान्त कैसे होऊं, देवी मुक्ता!

मुक्ता— तुम्हारे पिता कठोर नहीं हैं। इतनी बड़ी दुर्घटना ने उनके धैर्य को हिला दिया था। दुःख के क्षणों में संसार और सुख की अनित्यता का भान उन्हें हुआ। तुम्हारे प्रति उनके स्नेह का अन्त न होने से तुम्हारे लिये यह नित्य और शाश्वत सुख का मार्ग ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा।

नंदा—मेरी अवस्था देखो, देवी। मेरे शरीर और मेरे रूप पर एक दृष्टि डालो। अयाचित दुर्घटना ने रूप को [illegible]

में निष्फल कर डाले, जीवन और संसार की रचना क्या इसीलिए है ? इनका क्या दूसरा कोई उद्देश्य नहीं हो सकता ? मुझ जैसी कन्या को पाने के प्रयास मे मेरे माता पिता को क्या पाप ही पाप बटोरने पडे है ?

मुक्ता— तुम्हारी आत्मा में डंक कहां चुभ रहा है सो मैं जानती हूँ। हिमालय- सा दुर्भाग्य वहन करके भी तुम अपने को नियन्त्रित किये हुए हो, यह क्या कम है ?

नन्दा—मेरे भीतर ज्वालामुखी उफन रहा है। जब मैं अकेली होती हूँ तो विद्रोह और अभिमान आत्मनियन्त्रण को नगण्य कर उभर आते हैं। सारी बाधाएं, सारे बंधन, शिथिल होकर मुझे अनियन्त्रित छोड देते हैं।

मुक्ता—फिर भी तुम भिक्षुणी के आचार की मर्यादा से बाहर नहीं जा पाती हो, यही न ? यही अन्तःप्रेरणा तुम्हें उपशान्त और अनासक्त कर निर्वाण-सुख का लाभ करायेगी।

[भिक्षुणी धीरा का प्रवेश

धीरा— शास्ता ने महाप्रजावती गोतमी को आदेश दिया है कि सभी भिक्षुणियां बारी बारी से उपस्थित होकर भगवान का उपदेश सुना करेंगी।

मुक्ता - यह तो बडे आनन्द का आदेश है।

धीरा— हां, और इस आदेश का पालन कई दिन से हो रहा है। भिक्षुणियों मे नया जीवन और नई स्फूर्ति आगई है।

मुक्ता— हम लोगो की बारी कब आयेगी धीरा ?

धीरा— आज ही संध्या समय तुम्हें शास्ता के सामने उपस्थित होना है। तुम्हारे बाद ही अभिरूपा नंदा जायगी ?

नंदा— मुझे कहां भेज रही हो, शास्ता के सन्मुख ? न. मुझसे तो नहीं जाया जायगा।

धीरा — महाप्रजावती देवी गौतमी का आदेश है।

मुक्ता— यह तो बड़े आनंद की बात है। शास्ता के सन्मुख जाने का अवसर अनायास मिलने से तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए। नंदा, तुम्हारे हृदय की अशांति के शमन का समय आ पहुंचा है।

नंदा— मुझे शास्ता के सामने जाते डर लगता है। उनकी सी निर्मल दृष्टि मेरे पास नहीं है। वे बाहरी सौंदर्य नहीं चाहते। मैं उनके ज्ञान की अधिकारिणी नहीं।

धीरा— तब क्या होगा ? देवी गौतमी को क्या कहना होगा ?

नंदा— मैं स्वयं देवी गौतमी से निवेदन कर लूंगी। लेकिन नहीं तुम्हीं कह देना वह न जा सकेगी अपने स्थान पर मित्रा को भेज देगी। शास्ता जो कुछ कहेंगे उसे उससे ग्रहण कर सकेगी।

[धीरा का प्रस्थान, मित्रा का प्रवेश

मुक्ता— लो, याद करते ही मित्रा आ गई।

नंदा— मित्रा, तुम सब की मित्र हो।

मित्रा— तुम्हारी वाणी कल्याणी हो नंदा। मैं सबकी मित्र

धन सकूं।

मुक्ता— अमित्र किसी की नहीं।

मित्रा-- लेकिन मेरी याद क्यों हो रही थी? मेरे कौनसे भाग्य जागे हैं अभिरूपा?

मुक्ता— आज नन्दा को शास्ता के सन्मुख उपस्थित होना है। उसे जाने मे सकोच हो रहा है? तुम्हें उसका प्रतिनिधित्व करना है।

मित्रा--सकोच किसलिए। नन्दा, भला शास्ता से संकोच?

नन्दा— क्या बताऊं? मैं अभी इस योग्य नहीं कि आमने सामने शास्ता के शासन को ग्रहण कर सकूं।

मुक्ता— मेरा समय हो चला। मैं भगवान् के दर्शन को जा रही हूँ। [जाती है।

मित्रा— नन्दा, तुम ऐसा न समझो कि भगवान् को तुम्हारे मनस्ताप का ज्ञान नहीं है। वे योगबल से प्रत्येक भिक्षु-भिक्षुणी के अन्तर की दशा को जानते हैं।

नन्दा— तभी तो मुझे उनके सामने जाते नहीं बनता है। हृदय मे मलिन भावनाएं भरे, केवल बाहर से साफ सुथरी होकर, उन्हें क्योंकर भ्रम मे डालने जाऊं?

मित्रा— और विशुद्ध निर्विकार हो जाने पर उनके पास जाने की आवश्यकता भी नहीं। तुम ऐसा न समझो नन्दा कि भगवान् तुम्हारी मलिन भावनाओं से दुखी होंगे। उनकी करुणा, उनके

स्नेह को वही पाते हैं जो नित्य सुख और शाश्वत आनन्द से वंचित हैं।

नन्दा— मै प्रयत्न करूंगी। आज तो तुम मेरी सहायता करो।

मित्रा— मैं तैयार हूँ। मै बड़ी प्रसन्नता से तुम्हारी ओर से जाऊंगी। — मैं जा रही हूँ।

नन्दा — धन्यवाद।

(मित्रा का प्रस्थान, गौतमी का प्रवेश, नन्दा खड़ी होकर अभिवादन करती है।)

गोमती— नन्दा, तुमने अपने स्थान पर मित्रा को भेजा है।

नन्दा— शास्ता ऊपरी सौंदर्य को अच्छा नहीं समझते।

गौतमी— उसका इतना ही मतलब है कि भिक्षुणी को अपने रूप और यौवन के प्रति उदासीन रहना चाहिए। भव भव की सुख शान्ति को पाने के लिए हमारी यह साधना है। सांसारिक क्षणिक सुख के लिए यत्नशील है। वह क्षण आया और गया, फिर दुःख ही दुःख, अंधेरा ही अंधेरा।

नन्दा— भगवती, क्षमा करें। मेरा निरीह मानस यह सब समझने मे अभी समर्थ नहीं है। काया का मोह छूटने मे समय लगेगा।

गौतमी— भगवान् तुम्हारे ऊपर कृपा करें, वत्से! तुम शान्ति लाभ करो। तुम सब के लिये अनुकरणीय बनो!

नन्दा— इतना बड़ा सौभाग्य! मैं इसके लिए सर्वथा अयोग्य हूँ भगवती!

(चरणों में प्रणिपात करती है, गोतमी उसके सिर पर हाथ रखती है ।)

गोतमी— नन्दे, अभिरूपे, वत्से, उठो – देखो भगवान् स्वयं चलकर तुम्हें उपदेश देने आ रहे हैं। अशुचि और मलिनता से छुटकारा पाकर तुम निरन्तर पवित्रता को प्राप्त हो ।

(गौतमबुद्ध का प्रवेश, नन्दा उठकर खड़ी होती है । वस्त्रों को समेट कर भगवान् के चरणों में प्रणिपात करती है ।)

बुद्धदेव— कल्याण हो, हृदय के अहङ्कार का नाश हो, चित्त शान्ति मे स्थिर हो । — उठो, अभिरूपे, इधर देखो ।

नन्दा— अपने अबोध के लिये मुझे खेद है भगवन् ।

बुद्धदेव — उस बात को भूल जाओ अभिरूपे, तुमने न आकर मेरे प्रमाद को मेरे सामने ला दिया । भिक्षुणीवर्ग को मेरी और अधिक आवश्यकता है इस बात को मैं समझ सका ।

नन्दा— भगवान् की महती कृपा की मैं एक अंश भी अधिकारिणी नहीं हूँ ।

बुद्धदेव— ऐसा मत सोचो अभिरूपे । रूप के इतने ऐश्वर्य को पाने के कारण ही तुम्हारा सौंदर्य-बोध इतना ऊंचा है । शरीर की सुन्दरता और उसकी विकृति के परिणामों को तुम सहज ही समझ सकती हो । देखो, यह तो है रूप और यौवन की परिणति ।

(जरा, अशुचि, दुर्गन्ध और व्याधिसमूह से विकृत एक नारी शरीर लाया जाता है । नन्दा एक दृष्टि देखकर आँखें बंद कर लेती है ।)

नन्दा— हटाओ, हटाओ । मैं देख नहीं सकती इसे ।

[बुद्धदेव के इशारे से वह शरीर हटा लिया जाता है।]

बुद्धदेव— नन्दा, जानती हो वह किसका शरीर है?— एक समय यह भी अभिरूपा थी। ठीक तुम्हारी तरह। आज यह मुट्ठी भर हड्डियों का ढेर है। इसकी कंचन-काया, झुर्रियों और व्रणों के जाल से ढक गई है। समझ लो यही दशा तुम्हारे शरीर की होनी है। शरीर का परिणाम ही जरा और व्याधि है। अबुद्ध शरीर के परिणाम को नहीं देख पाते। इसमें लिप्त होते और अनन्त कष्ट भोगते हैं। नन्दा, तुम अतंद्रित होकर इस काया के रहस्य को समझो। सत्य को पहचानो। इसके प्रति अपनी आसक्ति को हटालो। अहङ्कार से चित्त को निर्मल करो। पुरुषार्थलीन, अनासक्त, उपशान्त होकर निर्वाण-सुख प्राप्त करो।— तुम इसकी सर्वथा अधिकारिणी हो।

नन्दा— देव, मैंने शरीर का वास्तविक रूप देख पाया। रूप और यौवन के पीछे झांकनेवाली जरा, जीर्णता और विकृति को समझ पाया। इस दुःख परिणामी काया के प्रति मुझे आंतरिक निर्वेद हो गया। मैं रागमुक्त हुई। देह से मैंने अपनापन तोड़ लिया भगवन्! आज से, इसी क्षण से।

बुद्धदेव— नन्दा, तुम आज सच्चे अर्थों में अभिरूपा हुई। तुमने नश्वर सम्बुद्ध के शासन को पूरा कर लिया।

(नन्दा बुद्धदेव के चरणों में झुकती है। देवी गौतमी धर्म, संघ और बुद्ध की वन्दना करती हैं।)

रचनाकाल– फरवरी १९५०

शुभा की आँखें

नट

शुभा	एक अल्पवयस्का भिक्षुणी
देवदत्त	एक युवक
बुद्धदेव	बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा

राजगृह से बाहर का वन-प्रान्त

सायंकाल

(पेड़ों की छाया के नीचे काषाय वस्त्र धारिणी भिक्षुणी शुभा एक पगडंडी का अनुसरण करती चली जा रही। अवस्था सोलह सत्रह वर्ष से अधिक नहीं। सौंदर्य-श्री अङ्गों से फूट रही किन्तु तपस्या की दिव्य आभा से पवित्रीकृत। शुभा अपने पैरों के नीचे पथ पर दृष्टि गड़ाये संसार की असारता का चिन्तन करती हुई नित्य इसी समय इसी मार्ग से आम्रवन की ओर जाया करती है। उसके रूप का लोभी देवदत्त रोज छिपकर उसे जाते हुए देखता है। शुभा के रूप का अञ्जन जब से उसकी आंखों में लगा है तब से उसे चैन नहीं। वह मतवाला बना उसे आते जाते देखा करता है। निष्पाप जीवन बितानेवाली शुभा को पता नहीं। वह तो अपने आप में डूबी हुई आती है और उसी प्रकार चली जाती है। संसार में जैसे कुछ भी उसके लिए द्रष्टव्य नहीं है। उसका यह आचरण देवदत्त को असह्य हो उठा है। जहां कुञ्ज की घनी छाया के नीचे से पगडंडी मुड़ती है वहीं बैठा हुआ वह शुभा की प्रतीक्षा कर रहा है। शुभा जब उस स्थान पर पहुँचती है तो वह उठ कर खड़ा हो जाता और उसके मार्ग को रोक लेता है : शुभा चकित होकर उसकी ओर देखती है— विस्फारित लोचन।)

शुभा— कौन हो तुम ?

देवदत्त— मैं इस रास्ते का स्वामी हूँ।

शुभा— क्या चाहते हो तुम ?

देवदत्त— मैं यह पूछता हूँ कि तुम किसकी आज्ञा से इधर से आती जाती हो ?

शुभा— तुम इस काषाय को नहीं देखते ? हम धर्म मार्गकी पथिक हैं। शास्ता के अतिरिक्त किसी के आदेश की हमें जरूरत नहीं।

देवदत्त— लेकिन यह धर्म-पथ नहीं है। इसका शास्ता मैं हूँ। यहां मेरी आज्ञा से आना जाना होता है।

शुभा— यदि ऐसा है तो इधर से न आऊंगी।

(मुड़कर लौटना चाहती है देवदत्त बढ़कर उधर भी खड़ा होता है।)

देवदत्त— तुम्हारा मार्ग मैंने बन्द कर दिया है।

शुभा— मेरा क्या अपराध है ? मैं विशुद्ध देह और निर्मल चित्तवाली हूँ। भाई, मुझे जाने दे।

देवदत्त— तुमने बहुत बड़ा अपराध किया है। किसी के हृदय को चुरा कर भाग जाना छोटा अपराध नहीं होता। मैं तुम्हें दण्ड दूंगा। [पकड़ना चाहता है।

शुभा— (पीछे हटकर) तुझे पता नहीं विरक्त भिक्षुणियों को छूना पुरुषों के लिए पाप है। तू मेरे मार्ग से दूर हो जा।

देवदत्त— शुभे, प्रव्रज्या किशोरियों के लिए नहीं होती। तुम किशोरी हो, प्रमदा हो। इस काषाय को उतार कर फेंक दो। मेरे शासन में आ जाओ। मेरे साथ चलकर रमण और

यौवन को सार्थक करो।

शुभा— स्वर्गलोक और मनुष्यलोक में ऐसा कुछ नहीं है जो मेरे हृदय में लालसा को जगा सके। तेरा प्रयत्न व्यर्थ है।—तू मेरे रास्ते से हट जा भाई।

देवदत्त— भोली शुभे, तुम्हारे ऊपर पाखण्डियों का प्रभाव है। सुनी-सुनाई शिक्षा के फेर में पड़कर तुम अलभ्य शरीर-सुख से वञ्चित मत हो। कमललता में अभी अभी खिले हुए दो नील कमलों की भांति आंखें, कमलनाल की तरह तुम्हारी भुजाएँ, चंपक प्रसून की भांति तुम्हारे अङ्ग क्या तपस्या की आग में होम देने के लिए हैं?

शुभा— बस, बहुत हो चुका। शास्ता के पास मुझे शीघ्र पहुंचना है। मेरा मार्ग छोड़ दे।

देवदत्त— हेमांगिनी, अविचार से काम न लो। जरा आंख उठाकर इस वासन्ती सृष्टि को देखो। फूल और पत्तों में नया जीवन आ गया है। मंजरी की भीनी गन्ध से वायु मतवाली होकर बह रही है। तुम्हारे हृदय में क्या इससे तनिक भी हलचल नहीं होती? यौवनश्री से शोभायमान तुम्हारी देह में क्या प्रणय की हिलोरें नहीं उठतीं?

शुभा— परन्तु यह सब कितनी देर के लिये है? क्या यह स्थायी सुख देनेवाला है? इसका परिणाम क्या जरा और शोक नहीं है?

देवदत्त— चंपककलिके, इस प्रपंच में मत पड़ो। यह इन

शिथिल इंद्रियोंवाले ऋषि-मुनियों की बातें हैं जो युवावस्था के आनन्द का रस लेने में सबसे आगे रहे हैं। आज वे युवक और युवतियों को विरक्ति की दीक्षा देते हैं। उनसे यह आशा करते हैं कि वे संसार के सुन्दर स्थानों की ओर से आंखें मींच लें।

शुभा — मुझे उपदेश की आवश्यकता नहीं। मैं शुभदृष्टि सम्पन्न हूं।

देवदत्त— अपसरे, याद रक्खो तुम पछताओगी। यौवन की यह रंगीन दुनिया बारबार देखने को न मिलेगी। विधाता के सबसे अमूल्य वरदान का तिरस्कार करने का पाप मत करो सुन्दरी! अभी समय है। एक लावण्यमयी किशोरी का शास्ता प्रेम के वेदमन्त्रों को पढ़ता हुआ प्रणयी युवक ही हो सकता है, इस बात को मत भूलो।

शुभा— छि: छि: वासना के आवेग से तू इस तरह अधा हो रहा है। तुझे ज्ञान नहीं कि मैं सम्यक् संबुद्ध की शिष्या हूं। अशुभ संस्कारों से मेरा सम्बन्ध कभी का टूट चुका है।

देवदत्त— (अट्टहास करते) किन्नरी, तोते की तरह ज्ञान को तुमने रट लिया है। तुम नहीं जानती कि तुम पथहीन स्थान में जाना चाहती हो। जिस मार्ग पर साधकों को भी सिद्धि नहीं मिल सकी उसको तुम अनायास ही पा लेना चाहती हो। भौंहों के इन्द्रधनुष पर तिरछी चितवन के शर का सन्धान करने और किसी किशोर को उसका लक्ष्य बनाने में ही तुम्हारे इस अभिसार की सार्थकता है। फूल देवता के चरणों में चढ़ना चाहिए।

इसे वृथा मत समझो ।

शुभा— मेरे पथ को अवरुद्ध कर रखने में कोई लाभ नहीं है युवक ! किसी तरह के प्रलोभन मुझे मेरे मार्ग से विचलित नहीं कर सकते । इस शरीर के प्रत्येक अङ्ग से मैने आसक्ति हटा ली है । मेरे लिए वे ठीकरे के समान हैं ।

देवदत्त— हो नहीं सकता, गोरी गोरी कमलनाल सी ये बाहें किसी विदग्ध के गले का हार बनने को आतुर न हों ? हो नहीं सकता, ये कर्णालम्बी रसभरे नयन एकान्त चान्दनी रातों मे किसी के लिए बेचैन न हो उठते हों । हे ब्रह्मचारिणि, तुम काषाय वस्त्रों मे अपने को कितना ही आवेष्ठित करो परन्तु मन के भीतर सहज हिलोरें लेनेवाले मनसिज को तुम शमन नहीं कर सकतीं । इसलिए मे कहता हूँ कि तुम वही करो जो सदा से प्रमदाएँ करती आ रही हैं । ये तुम्हारे स्वर्ण-कलश रेशम की कञ्चुकी मे रहने लायक हैं। ये तुम्हारे उन्नत नितम्ब फूलशैया पर विश्राम पाने योग्य हैं । ये कोमल कलाइया मणि जटित स्वर्ण-कङ्कणों की झंकार से कानों मे रस बरसाने के लिए हैं । ये कोकनद से सुकुमार तुम्हारे पाव देवदत्त की नित्य वदना के अधिकारी हैं । सुशीले, बोलो, क्या इसमे रत्ती भर भी झूठ है ?— लो, चमेली के फूलों की यह माला धारण करो सुनयने, और इस सहकार मे लिपटी हुई माधवीलता की तरह तुम मेरे शरीर से लिपट जाओ । वियोग की ज्वाला मे अब और अधिक न जलो मृगेक्षणि ! मेरी शकुन्तले, डरो नहीं । देवदत्त दुष्यन्त

जैसा प्रेमी नहीं है। वह तुम्हें आंखों में अंजन करके रक्खेगा।

शुभा— (मुस्कराकर) वाणी से समझने योग्य दशा नहीं है तेरी। (आंखों को देवदत्त की आंखों से मिलाकर) बोल क्या चाहता है भाई!

देवदत्त— स्वर्णपुत्तलिके, प्रिये, जान पड़ता है तुमने मेरी अनुनय को स्वीकार कर लिया है।— तुम्हारी मदभरी आंखें न जाने कैसा जादू पढ़ती हैं। अवश्य ही इन्होंने कोई वशीकरण मन्त्र सिद्ध किया है।

शुभा— मेरी आंखें, मेरी ये आंखें ही तेरी आसक्ति का कारण है। ले भाई तू इन आंखों को। इनकी असलियत तू इन्हें पाने पर ही समझ सकेगा।

(शुभा बैठ जाती है। अपने हद पञ्जों से दोनों आंखों के तारे और नाल से खुभाती है दोनों आंखों से रक्त के बूंद टपकते हैं और देवदत्त घबरा होकर उसे रोकता है।)

देवदत्त— बस, देवी बस। मैं नहीं जानता था तू अपने व्रत में इतनी पक्की है।— तेरा मङ्गल हो कल्याणी, तूने मुझे संसार को देखने की नई दृष्टि दी। मुझ पापी को क्षमा कर देवी।

शुभा— मुझे न रोक। मैं तुझे अपने इन मन रत्नों की वास्तविकता दिखा देना चाहती हूं जिन्होंने तुझे विमोहित कर लिया है।

देवदत्त— मेरा मोह दूर हो गया भगवती! मुझे दिव्य दृष्टि मिल गई। मैं कृतार्थ हुआ! पुण्यशीले, मैं तेरा आभारी हूं।

[बुद्धदेव का प्रवेश ।

बुद्धदेव— धर्म की जय हो। आचार की प्रतिष्ठा हो। करुणा का प्रसार हो।— शुभे, धर्म की मर्यादा को तूने ऊंचा उठाया है। तूने बुद्ध के शासन को दृढ़ किया है। तूने संसार मे सबसे बड़ी विजय प्राप्त की है, तू धन्य है।

(बुद्धदेव की वाणी शुभा की आंखों में मरहम का काम करती है। वह दिव्य दृष्टि उनके चरणों पर डालती हुई उनकी वन्दना करती है। देवदत्त भी बुद्धदेव के चरणों में गिरता है।)

रचनाकाल— जनवरी १९५०

पात्र

पूर्णा	दासी पुत्री, बुद्ध की शिष्या
जनार्दन	वैदिकधर्मावलंबी ब्राह्मण, बाद में बुद्धानुयायी
बुद्धदेव	गौतम बुद्ध
श्रेष्ठि	बुद्धदेव का भक्त सेठ
श्रेष्ठि पत्नी	बुद्धदेव के विचारों पर अनास्था रखनेवाली सेठानी

श्रावस्ती : नदी का किनारा

मध्यान्होत्तर काल

[पौष मास का कठिन शीत । हवा के शीत स्पर्श से शरीर में कंप होता है । भगवान् बुद्ध के उपदेशामृत को पानकर दासी-पुत्री पूर्णा आती और नदी किनारे एकान्त वृक्ष की छाया में बैठ जाती है । उसके हृदय में अननुभूत आनन्द लहरें ले रहा है । जीवन में आज उसे नया अनुभव हुआ है । अंधकार, नैराश्य, विवशता, भय और दैन्य पूर्ण जीवन में सबल अवलंबन और उज्ज्वल प्रकाशरेखा को पाकर उसका रोम रोम प्रकंपित हो उठा है । वह नदी की निर्मल तरंगित जलराशि के विस्तार पर अपनी दृष्टि बिछाकर अपने आपसे कहने लगती है ।]

पूर्णा— पूर्णा ! यह नाम किसने दिया तुझे ? दादी, नानी, मां, मौसी सभी का जीवन क्या था ? जीवन पर्यन्त घट भर भर कर भी उनका घट खाली ही रहा । उन्हें पूर्णा की इच्छा बनी ही रही । वही पूर्णा मैं उनकी अनन्त तपस्याओं का फल बन कर आई । नाम से पूर्णा, रूप से पूर्ण पर उन्हीं के भाग्य की तरह बाहर भीतर से खाली । झोंपड़ी में जन्मी, धूल में लोट कर बड़ी हुई । चाकरी की, सेवा की । अपनी स्वामिनी के लिए पानी भरती रही । गर्मी में पानी भरना, बरसात में पानी भरना, सर्दी में भी पानी भरना

और सेठानी की झिड़कियां सहना। आह, दासी का जीवन भी कोई जीवन है।— भला हो भगवान् तथागत का जिनके उपदेश से आज मन में शान्ति और हृदय में उल्लास का अनुभव हो रहा है। दासता की ज्वाला से दग्ध मानस में स्वतन्त्र चेतन आत्मा का जन्म हो रहा है। यही है वह पयस्विनी, यही है वह कल्लोलित जलधारा, किन्तु कितनी बदली हुई, कितनी सुहावनी? यहां आना निरानद और कष्ट का कारण होता था, आज उच्छल आनंद हिलोरें ले रहा है।

[हाथ में सुमिरनी लिए जनार्दन ब्राह्मण आता है

जनार्दन— शिव, शिव, गंगे।

[जोर जोर से उच्चारण करता है। पूर्णा का ध्यान भंग हो जाता है। ब्राह्मण नदी के प्रवाह में उतरने के लिए पैर बढ़ाता है।]

पूर्णा— ब्राह्मण, मुझ दासी को तो अपनी सेठानी के डर से समय असमय पानी मे उतरना ही पड़ता है परन्तु तुम्हें किसका डर है? तुम क्यों इस कठिन शीत में नदी मे घुसते हो? क्यों निरन्तर सर्दी की कठिन पीड़ा को सहते हो?

जनार्दन— (हंसकर) पूर्णिके, तू जानती हुई भी ऐसा प्रश्न क्यों करती है?

पूर्णा— मैं सचमुच ही नहीं जानती कि तुम किस सेठानी की चाकरी बजाने के लिए इतना कष्ट उठा रहे हो विप्र।

जनार्दन— राम-राम, शिव, शिव। मैं ब्राह्मण होकर सेठानी की चाकरी बजाऊंगा। तेरी बुद्धि पर मुझे तरस आता है!

पूर्णा—मुझे भी इसीलिए अचरज होता है कि इतने ज्ञानवान होकर भी तुम किसके डर से इतना कष्ट उठा रहे हो ?

जनार्दन—कष्ट नहीं पूर्णिके, कष्ट उठाना मत कहो इसे ।

पूर्णा—तो क्या कहूँ ?

जनार्दन—यह एक पुण्य कृत्य है। इसमें पापकर्मों के फल का अवरोध होता है ।

पूर्णा—इस शीत काल में हिमजल में डुबकी लगाने से पापों का क्षय होता है ?

जनार्दन—हां यही बात है। मनुष्य जो बुरे कर्म करता है स्नान शुद्धि से वह उन सबसे मुक्त हो जाता है ।

पूर्णा—स्नान शुद्धि से पापमुक्ति होती है। ब्राह्मण, यह तुमसे किसने कहा ?

जनार्दन—कहेगा कौन? एक पंडित ब्राह्मण को यह कौन बतावेगा, यह तो वह अपने संस्कारों से ही जानता है। एक जवान आदमी के चित्त में दुर्वासनाएं न हों यह संभव नहीं और पाप कर्मों में वह लिप्त न हो यह भी संभव नहीं। स्नान-शुद्धि द्वारा वह संचित पापों के फल से अपने को बचा सकता है यदि तुमने यह तत्त्व पूर्वजन्म में जान पाया होता तो दासीपुत्री बनकर जन्म न लेतीं ।

पूर्णा—ब्राह्मण देवता, मेरी समझ से तो यह अज्ञानी मूढ़ का अज्ञानी मूढ़ के प्रति उपदेश है। यदि जल से पापों का

शमन होता तो यह कछुए, मेंढक, मत्स्य, सर्प आदि जलचर कभी के स्वर्ग पहुंच गये होते । यह तो निरन्तर अपनी काया की शुद्धि करते रहते हैं ।

जनार्दन— यह तुम क्या कहती हो ?

पूर्णा— मैं यही कहती हूँ कि तब तो कसाई, मछुए, बहेलिए, चोर, लबार सभी अपना अपना काम करने के बाद नदी में नहाकर अपने पापों को धो डालेंगे और स्वर्ग जाने की तैयारी कर लेंगे ।

जनार्दन— यह कैसे होगा ? (सोचता है)

पूर्णा— पाप कर्मों से मुक्त होने का यह सीधा मार्ग मनुष्य को पापों में लगाने के लिए उत्साहित करेगा । कोई घृणित से घृणित पाप करने से डरेगा नहीं । यह दुनियां पापियों और दुष्कर्मियों की क्रीड़ाभूमि हो जायेगी ।

जनार्दन— एं । (आशंका से कांपता है ।)

पूर्णा— फिर यदि नदी में नहाने से पूर्वकृत पाप कर्म धुल जाते हैं तो पुण्यकर्म भी धुल जायगे । यह नहीं हो सकता कि जल स्पर्श पापों को धोये पुण्यों को छोड़ दे ।— पुण्य धुल जाने से पास क्या रहेगा ब्राह्मण ?

जनार्दन— पूर्णिके, तू दासीपुत्री होकर भी कितने स्वच्छ विचार रखती है ? किन्तु—

पूर्णा— ब्राह्मण देवता, आर्य-सत्यों को पहचानो। पाखंडी

विचारों को छोड़ दो । यदि नाश के भय से तुम कष्टों को सहन करते हो तो भी उस भय को छोड़ दो । अपने शरीर की रक्षा करो, उसे पीड़ित मत करो । यह आर्य-मार्ग नहीं है, यह बुद्ध-मार्ग नहीं है ।

जनार्दन—(प्रभावित होकर) भद्रे, तूने मुझे सुज्ञान दिया, इसके लिए मैं तेरा आभारी हूँ । ले, इन स्नानवस्त्रों को मैं तुझे दान करता हूँ

(वस्त्र देना चाहता है ।)

पूर्णा— नहीं ब्राह्मण, मुझे तुम्हारे वस्त्रों की इच्छा नहीं है । वे तुम्हारे ही पास रहें ।— मैं तुमसे सिर्फ इतना चाहती हूँ कि यदि दुःख तुम्हें प्रिय नहीं तो गुप्त या प्रकट किसी तरह के पाप कर्मों में लिप्त न होना । यदि कभी पाप-कर्म का संकल्प किया तो जान रक्खो दुःख से तुम्हारी निवृत्ति नहीं । चाहे कहीं भागो, चाहे कहीं छिपो, दुःखों से छुटकारा नहीं पा सकते । परन्तु यदि दुःख नहीं चाहिए, यदि तुम दुःखों से डरते हो, तो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाओ । पाप-कर्मों से बचो । आर्य मार्ग का अवलम्बन करो । तुम्हारा कल्याण होगा । तुम्हारी मुक्ति होगी । यही एक रास्ता है, यही एक मार्ग है — निष्कंटक, निरापद !

जनार्दन— देवी, तुमने मेरे अज्ञानता और मिथ्या के गर्व का नाश किया, तुमने मुझे आर्य-मार्ग का दर्शन कराया । मैं तुम्हारा चिर अनुयायी हूँ । मैं सदाचरण पालन को अपना व्रत बनाता हूँ, यह मेरे लिए मंगलकारी हो ।

[श्रेष्ठी, उसकी पत्नी और बुद्धदेव का प्रवेश

बुद्धदेव— श्रेष्ठिप्रवर, यही तुम्हारी दासीपुत्री पूर्णिका है।

श्रेष्ठी— (प्रणिपात करके) भगवन्, मैं पूर्णिका को दासत्व से मुक्त करता हू। यह अब दासीपुत्री नहीं है।

जनार्दन— प्रभो, इस देवी ने एक ब्राह्मण को वास्तविक विशुद्धि के मार्ग मे उपनीत किया है। (पूर्णा की ओर संकेत करता है, पूर्णा बुद्धदेव के चरणों मे गिर कर वंदना करती है)

बुद्धदेव— कल्याणी, उठो। भिक्षुणी संघ तुम्हारे प्रदीप्त व्यक्तित्व से गौरवान्वित हो।

पूर्णा— मैं बुद्ध की शरण हूँ, मैं संघ की शरण हूँ।

जनार्दन— भगवन्, मुझे भी स्वीकार कीजिए।

बुद्धदेव— आर्य मार्ग के अनुगामी, तुम्हारा कल्याण हो। बुद्ध-शासन प्रशस्त हो।

श्रेष्ठिपत्नी— प्रभो, हमारा पानी कौन भरेगा? कठिन शीत मे जलस्पर्श उन्हीं का काम है जो उसे करते आये हैं।

बुद्धदेव— भद्रे, आत्मनिर्भर बनो। मनुष्य को मनुष्य की दासता से मुक्त होने दो।

श्रेष्ठिपत्नी— किन्तु सेव्य-सेवक की परंपरा तो अनादि काल से है भगवन्। उसे भंग कर देने से व्यवस्था बिगड़ जायगी। व्यवस्था का भंग क्या धर्मानुमोदित होगा?

बुद्धदेव— यह व्यवस्था का भंग नहीं है देवी। बंधन कभी व्यवस्था नहीं हो सकता। स्वेच्छा से व्यक्ति का निर्माण

होने देने में कल्याण ही कल्याण है।

श्रेष्ठिपत्नी— स्वेच्छा, कल्याण— कुछ समझ में नहीं आता। अपने हाथों से पानी भरने का काम मैंने तो कभी किया नहीं है देव!

बुद्धदेव — इस नई व्यवस्था के प्रयोग से स्वस्थ मानवता का विकास होगा। दलित दासत्व के भार से हल्के होकर पनपें और सेव्य आत्मनिर्भरता की दीक्षा ग्रहण कर सजीव हों। पूर्णिका को मुक्त करके तुम बंधती हो? इस दृष्टिकोण से सोचना बंद करदो। तुम्हारा कल्याण होगा। अपने पति की सहज अनुगामिनी बनो, शुभे।

श्रेष्ठिपत्नी— मैं दुर्बल नारी यह मानने में असमर्थ हूँ देव। मेरे कल्याण का बहुत बड़ा अंश पूर्णिकाओं की निरन्तर परिचर्या पर ही अवलंबित है — पर आपका अनुरोध कैसे अमान्य करूं? मैं पूर्णिका को मुक्त करती हूं। पर, बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाने के लिए असमर्थ हूँ।

बुद्धदेव — बलात् त्याग करनी स्वाभाविक शक्ति को प्राप्त नहीं होता।

श्रेष्ठिपत्नी— मैं नारी हूँ देव, दुर्बल नारी! शक्ति से मंडित होने के लिए नहीं हूँ मैं। — मैं अपने सहज हृदय से पूर्णिका को स्वाधीनता स्वीकार करने के लिए मुक्त करती हूँ।

बुद्धदेव— महिमा स्वयं तुम जैसी देवियों से महिमान्वित होती है कल्याणी।

[बुद्धदेव अपना हाथ उठाकर श्रेष्ठिपत्नी को आशीष देते हैं। श्रेष्ठि, पूर्णिका और जनार्दन सब बारी बारी से भगवान् के चरणों में प्रणिपात करते हैं।]

रचनाकाल— अक्टूबर १९५०

उपसंपदा

पात्र

तिष्या	अनिंद्य सुन्दरी षोडषी, वाग्विलासिनी
अभया	एक अल्प वयस्क भिक्षुणी
रोहिणी	तिष्या की दासी
बुद्धदेव	बौद्धधर्म के संस्थापक

राजगृह

मध्यान्ह

[भिक्षापात्र लिए भिक्षुणी अभया जनपद में एक घर से दूसरे घर होती हुई तिष्या के द्वार पर आकर खड़ी हो जाती है। तिष्या रत्नाभरणों के भार से मुश्किल से उठ पाती और तब भिक्षुणी का स्वागत करती है। तिष्या के इशारे से उसकी परिचारिका रोहिणी एक चाँदी का पात्र लेकर आती है। तिष्या पात्र लेकर भिक्षुणी के भिक्षापात्र में उलट देती है। अभया आशीर्वचन कहकर जाना चाहती है।]

तिष्या— आर्ये!

अभया— (पलटकर) भद्रे! कुछ कहना है?

तिष्या— बहुत दिन से एक प्रश्न मेरे होठों पर रुका है। आपको देखती हूँ, पूछना चाहती हूँ, परन्तु—

अभया— बाधा क्या है?

तिष्या— मेरी और आपकी समान वय ही बाधा है।

अभया— समान वय ही बाधा है, अचरज की बात है!— बाधा हट जाय तब पूछ लेना। (जाना चाहती है)

तिष्या— आप जा रही हैं?

अभया— शास्ता के शासन में विराम नहीं। गति, प्रगति, सुगति—चलना ही चलना तो है!

तिष्या—और दुर्गति मे पड़े हुओं के लिए भी रुकना नहीं ?

अभया— यह क्या कहती हो महाभागे। तथागत की वाणी तो करुणा के अमृतजल से ही अभिसिचित है। उन चरणचिन्हों की अनुगत कहलाने वाली हम सब आर्त सृष्टि को आश्वस्त करने के लिए प्रतिक्षण कर्तव्य-लग्न हैं।

तिष्या— यही तो- यही तो, इस वय मे— यौवन वसंत की इस पूर्णिमा में, यह निर्मल दृष्टि। ईर्षा होती है मुझे, आर्ये।

अभया— यह ईर्षा तो मंगलकारी है शुभे।

तिष्या— सच कहती हूँ आर्ये। मेरे मन मे आग लगी रहती है। भोग तृष्णा की ज्वाला से रोम रोम जलता रहता है। विलास में डूबी हुई भी मैं उसके अमृत सुख की लालसा को सदा संजोये रहती हूँ, एक क्षण के लिए भी विस्मृत नहीं कर पाती। किन्तु आपको देखती हूँ तभी—

अभया—सकोच की कोई बात नहीं है, जो कहना हो वह डालो।

तिष्या— बात कहने की नहीं है आर्ये।

अभया— दुर्बलता का यह स्थल नहीं है भद्रे।

तिष्या— बात यह है— बात यह है, मैं सोचती हूँ जो मेरे लिए सत्य है वही हाड़मास से बने आपके शरीर के लिए भी क्या सत्य नहीं है ? मैं जिस प्रकार चित्त से सदा डसी जाती हूँ उसी प्रकार क्या—

अभया— तुम्हारी शंका निराधार नहीं है, भद्रे ! साधना के पथ पर चलते हुए मुझे भी अपने चित्त से लड़ना पड़ा है ? उसे यदि बताने लग जाऊं तो तुम अचरज करोगी । भिक्षुणी-संघ में सात वर्ष रह कर भी, विहार के पवित्र वातावरण में अहोरात्र धर्मचर्चा का अमृत पान करके भी, चिंताधारा उद्वेग से निर्मल न हो पाई । प्रत्येक पल, प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक दिन, प्रत्येक रात मैं मन के उत्पीड़न से व्याकुल रही हूं । भोग-तृष्णा से दुखी, वासना के स्वप्नों में खोई, मुहूर्त भर के लिए चैन नहीं पा सकी हूं ।

तिष्या— ऐसा ।

अभया— हां, और इसे स्वीकार करने में मुझे कोई भय नहीं है । यह देह तो यौवनश्री से अभी तक दीप्त है, विगत यौवना भिक्षुणियों के अनुभव मुझसे भी कटु और दीर्घ काल व्यापी हैं ।

तिष्या— यह मैं क्या सुनती हूं ?

अभया— मार की सैन्य से जूझकर विजयिनी होना सहज नहीं है । सिद्धि की आकांक्षा लिए मैं घूमती हूं । द्वार द्वार पर सम्मान और भजन की दृष्टि मेरा स्वागत करती है । उस समय मुझे लगता है कि प्रवंचना के समुद्र में डूब जाऊं तो प्राण मिले ।

तिष्या— यह कैसे मानूं मैं ? आपकी शान्त मुद्रा, आपकी शुभ्र दृष्टि, आपकी निर्मल वाणी, आपकी स्वच्छ विचारधारा, साधना की डगर पर आपकी अविचल प्रगति कह रही है कि आप सांसारिक लिप्सा से कितनी दूर हैं— आप हम भिक्षुणियों से

कितनी महीयसी है ।

अभया— यह बात नहीं है । सत्य श्रद्धा के वातावरण से बाहर ही अपने नग्न रूप मे प्रस्तुत हो पाता है ।

तिष्या— देवी, आचार की आधार शिला पर विराजमान आपके चरण हम पाप- पंकिल प्राणियों के लिए नित्य सायं-प्रातः अभिवंदनीय है । अपनी वाचालता और चंचलता के लिए मैं क्षमाप्रार्थिनी हू ।

अभया— तुम मेरी मार्गदर्शिका हो पुण्यशीले । बाहर और भीतर की जिस असगति के मध्य मैं रह रही थी उसकी ओर तुम्हारा सकेत मेरे लिए एक नई चेतना है ।

तिष्या— (रोहिणी को लक्ष्य करके) रोहिणी, कौमुदी महोत्सव नहीं होगा आज ।

रोहिणी— नहीं होगा (नाक पर उगली रखकर चिंतित मुद्रा में खड़ी रह जाती है ।)

तिष्या— नहीं (अभया के प्रति)देवी, आपको बहुत विलंब होगया । मेरी अविचार से भरी बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है ।

अभया— वह अब मेरे विचार की बात है ।

जाती है

रोहिणी—स्वामिनी की इस नई आज्ञा का प्रतिपालन कैसे होगा ?

तिष्या—मंगल कलश को धरती पर उड़ेल कर, पुष्पसज्जा को भागीरथी की भेंट करके, वाद्ययंत्रों को अग्नि में स्वाहा करके, गंधद्रव्यों को धूलिसात करके। समझ गई या और बताऊँ ?

रोहिणी—(स्वीकृति सूचक सिर हिलाकर) स्वामिनी !

तिष्या—तुम नहीं समझी रोहिणी ! मेरे आदेश को तुम नहीं समझती ?

रोहिणी—परन्तु दर्शकों की भीड़ के लिए क्या होगा ?

तिष्या—वह तो विश्राम कक्ष के सामने एकत्र हो रही है ?

रोहिणी—कुछ क्षणों में वहां प्रवेश कठिन हो जायगा।

तिष्या—उससे पूर्व ही सूचित करना होगा।

रोहिणी—परन्तु किस तरह क्या कहना होगा ?

तिष्या—कहना होगा रात बीतते बीतते जिसका विसर्जन अनिवार्य है उस महोत्सव के आरम्भ का निषेध किया जाता है।

रोहिणी—इतनी सी बात ! लोग सुनेंगे ?

तिष्या—महोत्सव एक ही हो सकता है।

रोहिणी—दो के लिए कौन कहता है ?

तिष्या—हृदय में जब चांदनी छिटक गई है, जब आनन्द का स्रोत अन्तरतर से फूट निकला है, तब कौमुदी महोत्सव क्या है ? उसकी नगण्यता [illegible] है। ([illegible] उभरती हुई [illegible] है)

रोहिणी—कुछ अस्वस्थता प्रतीत होरही है ? वैद्यजी को ले आने के लिए वसुबंधु को भेजूं ?

तिष्या—नहीं ।

रोहिणी—स्वामिनी, क्या हुआ है फिर आपको ?

तिष्या—मुझे कुछ हुआ है यह कैसे मालूम होता है तुम्हें ?

रोहिणी—आपही तो महोत्सव का निषेध कर रही हैं। जिसके लिए महीनों से तैयारी हो रही थी। जिसके लिए हजारों उत्सुक आंखें और हजारों ही तरसते हृदय घडी पल गिन रहे हैं, रसिकों और भावुकों के प्रेम और शृगांर का वह उत्सव आज न होगा ? रूपमाधुरी के लोलुप युवक निराश लौट जायगे ?

तिष्या—रोहिणी, रोहिणी, अगर तुम जान पातीं—

रोहिणी—मैं नहीं जानना चाहती। सिर मुंडाया, काषाय पहन लिया और लगीं जिस तिस को भरमाने। सघाराम मे जो आये दिन लीलाए होती है वे क्या किसी से छिपी हैं।

तिष्या—रोहिणी, बिना समझे अशोभन बात नहीं निकालनी चाहिए मुह से ।

रोहिणी—अशोभन, स्वामिनी। मैं अभी ले आती हूं। यह तो सघाराम मे रह आई है। अभी सुन लेना उससे।

(जाती है।)

तिष्या—मुंडित केश, चीवरधारिणी भिक्षुणी अभया

मार की अपराजित सैन्य से उत्पीड़ित होती हैं ! वयस्का भिक्षु-णियां भी उसके लक्ष्यभेदी शरों का निशाना बनती हैं। रोहिणी सच कहती है, किन्तु वे घायल हो होकर भी सन्नद्ध होती हैं। उसे ललकारती हैं। उससे लोहा लेती हैं। अन्त में उसे पराजित करती हैं। उस पर विजय पाती हैं। मुक्त वारविलासिनी तिष्या से, जो मार की विजयवाहिनी का एक हथियार बन गई है, उनमें अन्तर है—महान अन्तर है। क्यों ? इसलिए न कि उन्हें भगवान् तथागत का अवलंब प्राप्त है, मैं निराधार निरीह शरण के अभाव में नित्य प्रतिक्षण उसका शिकार होती हूं।

[अनागारिका अभया का प्रवेश

अभया—शुभे, तभी तो तुम्हारी महिमा है। सिर पर बिना किसी तरह हाथ के तुम अपने को पहचान रही हो, पापी मार को पहचान रही हो, भगवान् की शक्ति को भी पहचान रही हो।

तिष्या—बस, देवी। बहुत हो चुका। पंक पंकिल जीवन-धरित्री पर लोटनेवाली गर्हित वनिता को यह महत्त्व न दें। बुद्ध शासन को पूरा करने की सामर्थ्य कहां किसमें है ?

अभया—कल्याणी, करुणावतार भगवान् बुद्ध की दृष्टि से कुछ भी छोटा नहीं है।

तिष्या—किन्तु देवि, नारी हृदय कैसे करे ?

अभया—बुद्ध वचनों में निष्ठा रखना है, संयम की दृढ़ता

से जो निर्वेद को प्राप्त हुए हैं, उनके प्रति सुगत भगवान् कभी असावधान नहीं है । मुझे आना ही पड़ा !

तिष्या— वह दिन कब आयगा देवी, जब मुझ पापिष्ठा को सद्धर्म के राजपथ पर चलने की छूट होगी ?

अभया— मैं तुम्हें यही बताने आई हू कि निष्ठा के साथ इच्छाओं को प्रशमित, वासनाओं को शांत, करने मे न लगे तो घड़ी भर भी न लगे, और लगे तो मुझ जैसी चंचल चित्त का मन बरसों डावाडोल रहे । तुम्हारी प्रगति आशु और अपूर्व है ।

तिष्या— मुझे भय है, मुझ जैसी कलंकित जीवन बितानेवाली को धर्म के क्षेत्र मे कहीं भी स्थान है ?

अभया— पाप के पौधे को कुतरने के लिए चिंतन का कीट जिस क्षण तुम्हारे मन मे उत्पन्न हुआ उसी क्षण से तुम बुद्ध-पथ की पथिका हो । अमृतपद की उपसपदा तुम्हारी बाट जोह रही है । बुद्ध के अमोघ शासन का वरण कर तुम निर्मल चित्त बनो । तुम अनत सुख और अक्षय शांति की अधिकारिणी हो ।

तिष्या— (गद्गद् होकर) विश्वास नहीं होता आर्ये ! मेरा हृदय भीतर से धकधक कर रहा है ।

अभया— तुम्हारी बेड़ी कटने का समय आगया है ।

तिष्या— (दोनों बाहें फैलाकर) देवि, पीपल के पत्ते की तरह मेरी काया कांप रही है । मुझे सहारा दो । मुझे मार्ग

दिखाओ। (आगे बढ़ना चाहती है पर रुक जाती है।) हाय, कौन मेरे पैरों को पकड़ रहा है? कौन मुझे पीछे ढकेल रहा है? अभिलाषाओं की यह कैसी ज्वालाएं धधक उठी हैं?

अभया— डरो नहीं. मार के प्रलोभन से युद्ध करने की शक्ति तुम्हें प्राप्त हो रही है। दृढ़ रहो. तुम्हारा कल्याण होगा।

तिष्या— (कातर भाव से) मैं अबला कहां से इतनी शक्ति पाऊं? मैं फिसली पड़ती हूं। मैं गिरी जा रही हूं। रूप, यौवन और विलास के ये नाना उपकरण और उनकी मधु मादक स्मृतियां मुझे खींचे लिए जा रही हैं। कितना प्रबल आकर्षण है इनमें! धर्म की क्षीण, धुंधली और दुर्बल प्रेरणा कैसे बचा सकेगी देवि?

अभया— विश्वास रक्खो: अंतर्मुख होकर धर्म का चिन्तन करो। अज्ञानान्धकार विदीर्ण होने में अब क्षणों का विलंब है।

तिष्या— (कांपते कांपते घुटनों के बल बैठ जाती है। फिर भूमि पर लेटती है।) देवी, भगवती! मैं भगवान् की शरण हूं।

[भगवान् बुद्ध का प्रवेश

अभया— आंखें खोलो। वंदना करो। तथागत के चरणों में माथा नवाओ। तुम्हारी कातर करुण पुकार को यहां तक खींच लाई है।

तिष्या— (आंखें खोलती [illegible] और [illegible] से भगवान् बुद्ध की [illegible] करती है।) [illegible] [illegible] हिंसा नहीं

जानती कि किस तरह वह श्रीचरणों मे शरण की भिक्षा मांगे ?

बुद्धदेव — कल्याणी, तूने तीनों विद्याओं का साक्षात्कार कर लिया। तेरी पुनर्जन्म की फासी कट गई। तू निर्मल चित्त होकर विचरण कर। तू स्थिर मति होकर बुद्ध शासन को अधिकारिणी बन।

[रोहिणी का एक अन्य युवती को लिए प्रवेश। दोनों बुद्धदेव को देखकर चकित होती हैं। उनके मुंह से शब्द नहीं निकलते हैं। वे हाथ बांधकर भगवान् को प्रणाम करती हैं। बुद्ध हाथ के सकेत से आशीर्वाद देते हैं।]

तिष्या— करुणानिधान, मैं बुद्ध की शरण हूँ। (सिर चरणों पर रख देता है।)

(पटाक्षेप)